TEXT FLY WITHIN
THE BOOK ONLY

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182917

UNIVERSAL
LIBRARY

OUP—43—30-1-71—5,000

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H80·8 CAGS Accession No. P. G. H2107

Author चतुर्वेदी, देवीदयाल 'मस्त'

Title साहित्य संदेश - 1950 -

This book should be returned on or befor the date last marked below.

साहित्य-संचय

[बम्बई राज्य के नवीन पाठ्य-क्रमानुसार दसवीं कक्षा के लिए]

देवीदयाल चतुर्वेदी 'मस्त'
(भूतपूर्व सम्पादक 'सरस्वती')

प्रकाशक
सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद

१९५५] [मूल्य ३॥)

अपनी बात

बम्बई राज्य के शिक्षा-विभाग द्वारा स्वीकृत नवीन पाठ्य क्रम के अनुसार इस पुस्तक में साहित्य, संस्कृति, चरित्र-गठन, यात्रा और शिकार-सम्बन्धी निबन्ध, रोचक कहानियाँ, नाटक, संस्मरण और देश भक्ति तथा राष्ट्रीयता से ओतप्रोत कविताएँ संगृहीत की गई हैं। रचनाओं के चयन में यह विशेष ध्यान रखा गया है कि विद्यार्थी सरलतापूर्वक हिन्दी की ओर आकृष्ट हो सकें, उनकी रुचि परिमार्जित हो सके और उनकी ज्ञान-परिधि भी उत्तरोत्तर विस्तृत हो सके।

प्रत्येक पाठ के अन्त में अभ्यास के रूप में कुछ ऐसे प्रश्न दिये गए हैं, जिनके उत्तर देने की चेष्टा में छात्र न केवल उस पाठ की विशेषताओं को भली-भाँति हृदयंगम कर सकेंगे, प्रत्युत भाषा-संबंधी उनका साधारण ज्ञान भी विकसित हो सकेगा।

अब हिन्दी हमारी राष्ट्रभाषा है और राजभाषा भी है, अतः भारत के प्रत्येक नागरिक का यह कर्त्तव्य है कि वह न केवल इसे सीखने की दिशा में प्रवृत्त हो, अपितु इसकी साहित्यिक विशेषताओं से भी पूर्णतः परिचित होने की चेष्टा करे।

जिन आधुनिक अथवा मध्ययुगीन प्रतिष्ठित कवियों और साहित्यकारों की रचनाओं से यह पाठ्य-पुस्तक निर्मित की गई है, उन सबके प्रति हम कृतज्ञ है।

—सम्पादक

अनुक्रमणिका

१—भारतवर्ष हमारा है (कविता)—श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' १
२—साहित्यिक आदान-प्रदान—डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ४
३—पूस की रात (कहानी)—श्री प्रेमचन्द ... १३
४—सूर-सुधा (कविता)—सन्त सूरदास ... २३
५—लोकमान्य तिलक—श्री देवीदयाल चतुर्वेदी 'मस्त' २६
६—शिवाजी-स्तवन (कविता)—महाकवि भूषण ... ३७
७—निर्दोष (कहानी)—चक्रवर्ती राजगोपालाचारी ... ४०
८—वैज्ञानिक कथा-साहित्य—डॉ० सम्पूर्णानन्द ... ५२
९—मेरी योरप-यात्रा—राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्रप्रसाद ... ६२
१०—सीता-स्वयम्बर (कविता)—गोस्वामी तुलसीदास ... ६७
११—जाह्नवी (कहानी)—श्री जैनेन्द्रकुमार ... ७१
१२—गणेशोत्सव—श्री वसन्तराव नेने ... ८१
१३—साकेत-नगरी (कविता)—डॉ० मैथिलीशरण गुप्त ८८
१४—एक अनुभव (कहानी)—श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी ९१
१५—अमर कथाकार शरच्चन्द्र चट्टोपाध्याय—श्री असितकुमार हल्दार ९८
१६—बिहारी के दोहे (कविता) कविवर बिहारीलाल ... १०५
१७—मोल-तोल (कहानी)—श्रीमती हीरादेवी चतुर्वेदी ... १०७
१८—वह अनोखा अग्निहोत्र—श्री महादेव भाई देसाई ११७
१९—कबीर के पद (कविता)—सन्त कबीरदास ... १२३
२०—जेल जीवन की एक झाँकी—श्री दत्तात्रेय बालकृष्ण कालेलकर १२६
२१—एकाकी तारा (कहानी)—श्री 'अज्ञेय' ... १३४
२२—यमुना की शोभा (कविता)—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र १४४
२३—कर्त्तव्य और सत्यता—डॉ० श्यामसुन्दर दास ... १४७
२४—सोने की जंजीर (कहानी)—पं० देवीदयाल चतुर्वेदी 'मस्त' १५३
२५—छाया (कविता)—पं० सुमित्रानन्दन पन्त ... १६४
२६—संत-साहित्य—पं० परशुराम चतुर्वेदी ... १६८
२७—सड़क की बात—डा० रवीन्द्रनाथ ठाकुर ... १७५

२८—साहित्य की महत्ता—आचार्य पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी १८१
२९—झाँसी की रानी की समाधि (कविता)—श्रीमती
सुभद्राकुमारी चौहान ... १८६
३०—आचार्य विनोबा भावे—श्री अवनीन्द्रनाथ विद्यालंकार १८९
३१—कर्मवीरता (नाटक) श्री जयशंकर 'प्रसाद' ... १९७
३२—चल लहरों से खेलें (कविता) श्रीमती हीरादेवी चतुर्वेदी २०३
३३—संगीत का मनोवैज्ञानिक प्रभाव—संकलित ... २०६
३४—सच्चा धर्म (नाटक)—श्री सेठ गोविन्ददास ... २१२
३५—हिमालय (कविता)—श्री 'दिनकर' ... २२१
३६—हार की जीत (कहानी)—श्री 'सुदर्शन' ... २२५
३७—पत्थर बोलते हैं—श्री हरिकृष्ण देवसरे ... २३२
३८—कहानी-जगत् का चक्रवर्ती सम्राट् ईसप—संकलित २३९
३९—आँख का आँसू (कविता)—श्री 'हरिऔध' ... २४७
४०—तुलसी का भक्तिमार्ग—आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल २४९

२८—साहित्य की महत्ता—आचार्य पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी १८१
२९—झाँसी की रानी की समाधि (कविता)—श्रीमती
सुभद्राकुमारी चौहान ... १८६
३०—आचार्य विनोबा भावे—श्री अवनीन्द्रनाथ विद्यालंकार १८९
३१—कर्मवीरता (नाटक) श्री जयशंकर 'प्रसाद' ... १९७
३२—चल लहरों से खेलें (कविता) श्रीमती हीरादेवी चतुर्वेदी २०३
३३—संगीत का मनोवैज्ञानिक प्रभाव—संकलित ... २०६
३४—सच्चा धर्म (नाटक)—श्री सेठ गोविन्ददास ... २१२
३५—हिमालय (कविता)—श्री 'दिनकर' ... २२१
३६—हार की जीत (कहानी)—श्री 'सुदर्शन' ... २२५
३७—पत्थर बोलते हैं—श्री हरिकृष्ण देवसरे ... २३२
३८—कहानी-जगत् का चक्रवर्ती सम्राट् ईसप—संकलित २३९
३९—आँख का आँसू (कविता)—श्री 'हरिऔध' ... २४७
४०—तुलसी का भक्तिमार्ग—आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल २४९

१—भारतवर्ष हमारा है

श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'

[श्री नवीन जी का जन्म-संवत् १९५४ और जन्मस्थान शुजालपुर (ग्वालियर) है। आपके पिता पंडित जमनादास जी एक निर्धन, किन्तु कट्टर वैष्णव तथा कृष्णकाव्य के बड़े अनुरागी थे। जब नवीन जी बी० ए० फाइनल में थे, उसी समय असहयोग आन्दोलन आरम्भ हुआ। आपने राष्ट्र के आह्वान का तत्काल साथ दिया और कालेज छोड़ दिया। इस अध्ययन-काल में स्वर्गीय गणेशशंकर जी 'विद्यार्थी' से आपको बड़ी सहायता मिली और कालान्तर में आप उनके आत्मीय बन गए।

'प्रभा' और 'प्रताप' का नवीन जी ने कई वर्ष सम्पादन किया है। आप उत्तर प्रदेश के अग्रणी नेताओं में हैं और आजकल भारतीय संसद् के सदस्य हैं। कुशल पत्रकार, ओजस्वी वक्ता, कवि, कथाकार और निबन्धकार के रूप में आप प्रख्यात हैं।]

कोटि-कोटि कण्ठों से निकली आज यही स्वर-धारा है—
भारतवर्ष हमारा है यह हिन्दुस्तान हमारा है।

[१]

जिस दिन सबसे पहले जागे नव सिरजन के स्वप्न घने,
जिस दिन देश-काल के दो-दो विस्तृत विमल वितान तने,
जिस छिन नभ में तारे छिटके, जिस दिन सूरज-चाँद बने,
तब से है यह देश हमारा, यह अभिमान हमारा है।
भारतवर्ष हमारा है यह हिन्दुस्तान हमारा है॥

[२]

जब कि घटाओं ने सीखा था सबसे पहले घहराना,
पहले-पहल हवाओं ने जब सीखा था कुछ हहराना,
जब कि जलधि सब सीख रहे थे सबसे पहले लहराना,
उसी अनादि आदि क्षण से यह जन्मस्थान हमारा है।
भारतवर्ष हमारा है यह हिन्दुस्तान हमारा है॥

[३]

यहाँ प्रथम मानव ने खोले निंदियारे लोचन अपने,
इसी नभ-तले उसने देखे शत-शत नवल सृजन सपने,
यहाँ उठे 'स्वाहा'-के स्वर औ' यहाँ स्वधा के मन्त्र बने,
ऐसा प्यारा देश पुरातन, ज्ञान-निधान हमारा है।
भारतवर्ष हमारा है यह हिन्दुस्तान हमारा है॥

[४]

विंध्या, सतपुड़ा, नागा, खसिया, ये दो औघट घाट महा,
भारत के पूरब-पश्चिम के ये दो भीम कपाट महा,
तुङ्ग शिखर, चिर-अटल हिमाचल है पर्वत-सम्राट् यहाँ,
यह गिरिवर बन गया युगों से विजय-निशान हमारा है।
भारतवर्ष हमारा है यह हिन्दुस्तान हमारा है॥

[५]

क्या गणना है कितनी लम्बी हम सब की इतिहास लड़ी,
हमें गर्व है कि है बहुत ही गहरे अपनी नींव पड़ी,
हमने बहुत तार सिरजी हैं कई क्रान्तियाँ बड़ी-चढ़ी,
इतिहासों ने किया सदा ही, अतिशय मान हमारा है।
भारतवर्ष हमारा है यह हिन्दुस्तान हमारा है॥

[६]

है आसक्त-सूत अति उज्ज्वल, है अतीत गौरवशाली,
औ' छिटकी है वर्त्तमान पर बलि के शोणित की लाली,
नव ऊषा-सी विजय हमारी विहँस रही है मतवाली,
हम मानव को मुक्त करेंगे, यही विधान हमारा है।
भारतवर्ष हमारा है यह हिन्दुस्तान हमारा है॥

[७]

गरज उठे चालीस कोटि जन, सुन ये वचन उछाह भरे,
काँप उठे प्रतिपक्षी जनगण, उनके अंतस्तल सिहरे,
आज नए सुत के नयनों से ज्वलित अग्नि के पुंज झरे,
कौन सामने आएगा? यह देश महान् हमारा है।
भारतवर्ष हमारा है यह हिन्दुस्तान हमारा है॥

अभ्यास

१—भारतवर्ष को किस युग से कवि ने हमारा बतलाया है ?

२—दूसरे छन्द का अर्थ अपने शब्दों में समझाइए ।

३—पाँचवें छन्द का भाव स्पष्ट करते हुए किसी उल्लेखनीय क्रान्ति का वर्णन कीजिए ।

४—इस कविता में प्रयुक्त सामासिक शब्द छाँटकर उनका समास-विग्रह कीजिए ।

५—तत्सम रूप बतलाइए :—

छिन, सूरज, सपने, पूरब ।

२—साहित्यिक आदान-प्रदान

डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी

[आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का जन्म श्रावण शुक्ल ११, संवत् १९६४ को उत्तर प्रदेश के बलिया जिले के अन्तर्गत आरत दुबे का छपरा नामक ग्राम में हुआ था। संवत् १९८७ में आपने इण्टर और आचार्य की परीक्षाएँ उत्तीर्ण कीं। संवत् १९९० तक वह बी० ए० की परीक्षा देने का प्रयत्न करते रहे; किन्तु आँख की बीमारी के कारण उन्हें अपनी पढ़ाई बन्द कर देनी पड़ी। सवत् १९८७ में आप शान्ति निकेतन में गये, जहाँ लगभग बीस वर्ष तक हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष रहे। आजकल आप हिन्दू विश्व-विद्यालय, काशी में हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष हैं।

आप हिन्दी, अँगरेजी, संस्कृत, बँगला आदि भाषाओं के विद्वान् एवं भक्तिकालीन साहित्य के मर्मज्ञ हैं। आपने तुलसी, सूर, कबीर, विद्यापति, चण्डीदास आदि भक्त कवियों का गवेषणापूर्ण अध्ययन किया है। हिन्दी आलोचकों में आपका शीर्ष स्थान माना जाता है।

आपकी भाषा पर डॉ० रवीन्द्रनाथ ठाकुर की काव्यमयी शैली का प्रभाव भी यत्र-तत्र परिलक्षित होता है।]

प्रत्येक विचारशील मनुष्य आज सोचने लगा है कि भारतवर्ष के विभिन्न प्रदेशों में सद्भाव और मैत्री का संबंध दृढ़ होना चाहिए। प्राचीन साहित्य, इतिहास, सांस्कृतिक परंपराओं और दार्शनिक विचार-पद्धतियों की एकता ने हमारे देश की आधुनिक भाषाओं की साहित्य-साधना को एक सामान्य दृष्टि दी है। इसी प्रकार आधुनिक मानव-केंद्रिक विचार-पद्धति ने भी थोड़ा-बहुत सभी आधुनिक भाषाओं के साहित्य में एक ही प्रकार का नवीन स्वर दिया है। इस प्रकार प्रादेशिक साहित्यों में एक अयत्न-परिवर्द्धित ऐक्य भावना पहले से ही वर्तमान है। किंतु फिर भी अपरिचय-जन्य अज्ञान और उपेक्षा के भाव सबके साहित्य में थोड़ी-बहुत मात्रा में मिलते हैं।

साहित्य मनुष्य की व्यक्तिगत और समूहगत विशेषताओं को

छोड़कर नहीं लिखा जा सकता। दूसरे प्रदेश के लोगों की उच्चारण-पद्धति, पहनावा, भोजन-सामग्री, रीति-नीति आदि को परिहास और उपहास का साधन बनाना भी प्रायः प्रत्येक प्रदेश के साहित्य में पाया जाता है। कभी-कभी ये परिहास काफी विरोध और प्रतिहिंसा जागृत कर देते हैं। निर्दोष परिहास भी कभी-कभी गलतफहमियों का कारण बन जाता है। इस प्रकार मैत्री का प्रधान साधन माने जाने-वाले साहित्य से भी कभी-कभी कटुता बढ़ जाती है, और एक भाषा के साहित्यिक दूसरी भाषा के साहित्यिक के आक्रमण का विषय बन जाते हैं। फिर साहित्य के माध्यम से कटुता का विष फैलने लगता है। यही कारण है कि कभी-कभी पड़ोसी भाषा के साहित्य के बारे में लोगों की धारणा कटुता-पूर्ण और हीन-भावनामयी बन जाती है।

एक तरफ तो हमारी भाषाओं और उनके बोलनेवालों में अद्भुत एकता है और सच पूछा जाय तो यह एकता संसार के इति-हास में अतुलनीय है। दूसरी तरफ अज्ञान-जन्य उपेक्षा और क्वचित्-कदाचित् भ्रांत धारणाओं के कारण कटुता का भाव भी पाया जाता है। दोनों ही बातों को एक ही उपाय से दूर किया जा सकता है—साहि-त्य के गाढ़ परिचय से। वस्तुतः यह हमारे लिए परम सौभाग्य की बात है कि यद्यपि यह देश बहुत विशाल है और यद्यपि इसमें कई भाषा बोलनेवाले लोग बसते हैं, तथापि हमारी संस्कृति के मूल उद्-गम एक हैं, जीवन के परम मूल्यों के संबंध में हम पूर्ण रूप से अभिन्न हैं और लक्ष्य और आदर्श के बारे में हममें कहीं भी मतभेद नहीं है। हमारे साहित्य को प्रेरणा देनेवाले तत्व भी संपूर्ण देश में एक और अभिन्न हैं। ऐसी अवस्था में थोड़ी-सी सहानुभूति का संबल लेकर ही हम एक दूसरे की कठिनाइयों को बड़ी आसानी से समझ सकते हैं।

परंतु हिंदी के राष्ट्रभाषा हो जाने के कारण एक और भी समस्या उत्पन्न हो गई है। प्रादेशिक भाषाओं के प्रेमियों के मन में यह आशंका उत्पन्न हुई है कि हिंदी का इस प्रकार जो अभिषेक हुआ है, वह प्रांतीय भाषा की उन्नति में बाधक है। हिंदी-भाषियों के मन में इसकी प्रतिक्रिया कई प्रकार से हुई है। कई मंचों से, कई विद्वानों के मुख से और कई संस्थाओं की ओर से यह घोषित किया

गया है कि हिंदी से प्रांतीय भाषाओं का कोई अनिष्ट नहीं हो सकता। परिणाम बहुत अच्छा नहीं हुआ है। सफाई देने से संदेह बढ़ गया है। प्रादेशिक मैत्री और एकता आवश्यक है, यह सब मानते हैं। कैसे हो, यही कठिन प्रश्न है। मेरी दृष्टि में सबसे उत्तम प्रयत्न अच्छे साहित्य का आदान-प्रदान है। केवल राष्ट्रीय एकता के लिए ही नहीं, अंतरराष्ट्रीय मैत्री के लिए भी इस कार्य का बड़ा महत्व है।

सच तो यह है कि साहित्यिक आदान-प्रदान का कार्य केवल प्रादेशिक भाषाओं के साहित्य तक ही सीमित रखना ठीक नहीं है। यह भी उचित नहीं जान पड़ता कि प्रादेशिक साहित्यों के आदान-प्रदान पर हम इतना अधिक ध्यान दें कि अंतरराष्ट्रीय साहित्य के आदान-प्रदान का कार्य अनिश्चित काल तक रोक दिया जाय। दोनों ही आवश्यक हैं।

इस कार्य को महत्वपूर्ण समझने का मेरे मन में क्या अर्थ है, यह भी मैं स्पष्ट कर देना चाहता हूँ। मैं बड़ी बात उसे कहता हूँ जिसके लिए बड़ा मूल्य देना पड़े। जिसके लिए कोई त्याग न करना पड़े, मनुष्य के कठोरतम अहंकार और ममत्व का बलिदान न किया जा सके, बड़े-बड़े मोहों को कीर के कागर की भाँति तज न दिया जा सके, वह बड़ी वस्तु कैसे हो सकती है? दुनिया में आज प्रयोजन की जबरदस्त चोट इतनी तेजी से पड़ रही है कि राष्ट्रीय, जातीय और दलीय भेदभाव को मिटाने का नारा हर मंच से सुनाई देने लगा है। एकता आज मनुष्य-जीवन की रक्षा के लिए अत्यंत आवश्यक वस्तु हो गई है। देश में एकता न हो, तो विदेशी आक्रमण का डर सताए रहता है और अंतरराष्ट्रीय क्षेत्र में अनैक्य को दूर करने का प्रयत्न न हो, तो सर्वांतक युद्ध की विभीषिका सिर पर सवार हो जाती है। मनुष्य के यूथ-बद्ध स्वभाव ने सभ्यता को जो प्रगति दी है, वह उसे छोटे-छोटे समूहों में रहने नहीं देना चाहता। यह मानव-प्रकृति का आवश्यक परिणाम है। परंतु प्रयोजन का यह विवेक सब समय पुराने मोहों और संस्कारों पर विजयी नहीं हो पाता और हजार बार सोची हुई और समझी हुई बात संस्कारों के एक ही आक्रमण में भूमिसात् हो जाती है। इसीलिए इन दिनों एकता और मैत्री की जो बातें हो रही हैं, वे बहुत स्थायी नहीं हैं। वे प्रयोजनवश, लाभ

की आशा से, संचय-रक्षा के लोभ से और प्राणभय के नए रूप से परिचालित हैं। इस प्रकार जो एकता प्राप्त की जा रही है और की जायगी, वह दूसरे प्रयोजन, दूसरे प्रलोभन और दूसरी आशंका के आने पर दूसरा रूप ग्रहण कर सकती है। स्थूल प्रयोजनों पर आधृत ऐक्य प्रयत्न बहुत स्थायी नहीं हो सकते। परंतु एकता आवश्यक है, क्योंकि उसकी उपेक्षा करना मनुष्य की आंतरिक प्रकृति की उपेक्षा है, और प्रकृति की उपेक्षा का परिणाम विनाश है।

इस प्रकार संभावित भय की आशंका और प्रत्याशित सुविधा, दोनों ने सार्वदेशिक मैत्री और एकता को आवश्यक बना दिया है। अट्ठारहवीं शताब्दी की फ्रांसीसी क्रांति के बाद विश्व-ऐक्य या मानव-ऐक्य की भावना कुछ अस्पष्ट रूप में विचारशील लोगों के चित्त में उत्पन्न होने लगी थी; और उन्नीसवीं शताब्दी में अनेक उतार-चढ़ावों के बाद बुद्धि-जीवियों में कुछ स्पष्ट और आदर्शवादी रूप ग्रहण करने लगी। बीसवीं शताब्दी के आरंभ में वह एकता लाखों व्यक्तियों की सम्मिलित रक्तधारा में स्नान करके यथार्थ के स्तर पर पहुँची। आज इस विचारधारा को पहले की भाँति राष्ट्र-वाद के विरुद्ध जाने-वाली या प्रतिक्रियावादी भावधारा के रूप में नहीं स्वीकार किया जाता। अब यह केवल उपरले स्तर के बुद्धिमानों का कल्पना-विलास नहीं समझी जाती, बल्कि व्यवहार-प्रिय राष्ट्रनेताओं का कर्त्तव्य बनती जा रही है। अब यह बहके दिमागों का स्वप्न भी नहीं रह गई है। जब विभिन्न संस्कृतियों और राष्ट्रीय परम्पराओं के प्रेमी, मानव-एकता में लगे हैं, तब यदि कोई एक ही संस्कृति, एक ही धर्म-संस्कार और एक राष्ट्रीय परंपरा के प्रेमी राज्यों या प्रदेशों की एकता का प्रयत्न करता है तो ठीक दिशा में जाने का यह प्रयत्न बहुत शुभ और बुद्धिमत्तापूर्ण होने पर भी कोई नवीन महत्व-मंडित प्रयत्न नहीं कहा जा सकता। हमारा विकास जिस बृहत्तर मानवीय संस्कृति की ओर हो रहा है, उसके लिए यह आवश्यक भी है और अवश्य-करणीय भी है। फिर भी जो लोग साहित्यिक आदान-प्रदान के मार्ग से आगे बढ़ रहे हैं, उनके प्रयत्न को मैं बहुत महत्वपूर्ण मानता हूँ।

कारण बताता हूँ। भय की आशंका और सुविधाओं के प्रलोभन से जो एकता उत्पन्न हो रही है, उसके स्थायित्व में बहुत

है। सत्य का मार्ग त्याग का मार्ग है। इसके लिए कोई अगवाह रास्ता नहीं है।

इसीलिए यदि हम सचमुच प्रादेशिक मैत्री और अंतरराष्ट्रीय प्रेमभाव को चाहते हैं तो त्याग को ही प्राधान्य देना होगा। जितनी ही मात्रा में आज हम अहंकार और ममकार को सच्चे हृदय से त्याग सकेंगे, उतनी ही मात्रा में हमें सफलता भी प्राप्त होगी। परंतु जैसा कि ऊपर इंगित किया गया है, त्याग और तपस्या भी जीवंत और विकसनशील धर्म है। एक काल में इनका जो रूप होता है, दूसरे काल में उसमें परिवर्तन आ सकता है। इतिहासविधाता ने मनुष्य-जाति को जिस रास्ते आगे बढ़ने का इंगित किया है वह सामाजिक संहतीभाव का मार्ग है। मनुष्य उन प्राणियों में है, जो संघबद्ध होकर रहते हैं। इन जीवों को यूथ-बद्ध या ग्रिगेरियन प्राणी कहते हैं। इनमें मनुष्य को ही प्रकृति के सबसे सुकुमार यंत्र—अन्तःकरण (मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार) पाने का सौभाग्य मिला है। जानकर और अनजान में मनुष्य इस संहत जीवन के परिष्कृत मार्ग की ओर ही चलता गया है। वह व्यक्तिगत स्वार्थों का समाज के लिए बलिदान करने को बड़ा मान देता है। उसकी इस प्रकृति ने त्याग, तप, और संयम को उच्चतर मूल्यों का आचरण माना है।

दीर्घकाल तक मानव त्याग, तप, संयम, नियम, तितिक्षा, मैत्री-भावना आदि को व्यक्तिगत आत्मा के स्वर्ग, मोक्ष या परलोक-सुख का साधन मानता आया है। उन्नीसवीं शताब्दी के वैज्ञानिक आविष्कारों और उनके आधार पर नव-प्रवर्तित शिक्षापद्धति ने उसका ध्यान परलोक की ओर से खींचकर इहलोक पर निबद्ध किया है। धीरे-धीरे वह यह भी अनुभव करने लगा है कि व्यक्ति-मानव को दुःख, कुशिक्षा और अभावों के दलदल से निकालना ही पर्याप्त नहीं है, उसे समाज-मानव को इन कठिनाइयों से मुक्त करना है। इस प्रकार समझदार मानव अब समाज-मनुष्य को इसी लोक में, इसी मर्त्य-कलेवर में रोग-शोक के आक्रमणों, आर्थिक और राजनीतिक शोषणों तथा राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय दाँव-पेंचों से मुक्त करने का स्वप्न देखने लगा है। इस प्रकार परिस्थितियों के दबाव से और अपनी प्रकृति के सहज विकास से मनुष्य-जीवन के महत्तर

मूल्यों ने रूपांतर में अपनी सार्थकता दिखाई है। अब उच्चकोटि का साहित्य मनुष्य को निरंतर प्रभावित और चालित करनेवाली उस प्रकृति का विश्लेषण करने लगा है, जो समाज-मानव को बंधन-मुक्त करने के लिए प्रयत्न-शील है। अब भी यह समझा जाता है कि व्यक्तिगत स्वार्थों का त्याग करके वर्ग, राष्ट्र या समूह के लिए संग्रह करना उत्तम आदर्श है, पर समय बताता जा रहा है कि यह भी गलत साबित होगा। समाज, समूह, राष्ट्र—सभी व्यक्ति-जैसे बनते जा रहे हैं और अंतर-मानव-मैत्री और अंतरराष्ट्रीय प्रेम के लिए अब दलगत, समूहगत, जातिगत संग्रह के मोह को भी त्यागना पड़ेगा। इतिहास-विधाता का निश्चित संकेत इसी ओर हो रहा है।

इसमें तो कोई संदेह नहीं कि साहित्य के माध्यम से हम इस लक्ष्य को जनसाधारण की अपनी चीज बना सकते हैं। पिछले दो सौ वर्षों के साहित्यिक प्रयत्नों ने मनुष्य को मध्यकालीन रूढ़ियों से मुक्त करके व्यक्तिगत स्वाधीनता को जन-साधारण की वस्तु बना दिया है। नए साहित्य को अब समाज-मानव की स्वाधीनता को सामान्य जानता का उसी प्रकार प्रिय बना देना होगा। परंतु ऐसा साहित्य केवल विधाता की दी हुई प्रतिभा के बल पर ही नहीं रचा जा सकता। उसके लिए ऐसे साहित्य की भी आवश्यकता है, जो चित्त को संस्कार दे सके। जो विश्व की उलझी हुई समस्याओं को ही नहीं जानता, वह उनका समाधान क्या बताएगा। आज प्रतिभा के साथ-साथ ऊँचे संस्कारों की भी आवश्यकता है। इस कार्य के लिए देश-भाषाओं में आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की सैकड़ों पुस्तकें आवश्यक हैं। जबतक हमारे प्रतिभाशाली लेखकों को आधुनिकतम ज्ञान-विज्ञान का अच्छा परिचय नहीं मिलता, तबतक वे उन ऊँचे मूल्यों को वर्तमान परिस्थिति के अनुकूल ढालकर जनसाधारण की संपत्ति नहीं बना सकते, जिन्हें दीर्घकाल की तपस्या और साधना से हमारे पूर्वजों ने प्राप्त किया था। सभी प्रादेशिक भारतीय भाषाओं में ऐसे साहित्य की आवश्यकता है। किसी भी भाषा में साहित्य लिखा जाय, तो दूसरी भाषा में अँगरेजी की अपेक्षा अधिक आसानी से उतारा जा सकता है। पर, चूँकि हिंदी इस विशाल देश की केंद्रीय भाषा है और उसका संपर्क सभी भारतीय भाषाओं से है तथा

भविष्य में यह संपर्क और भी अधिक होता रहेगा, इसलिए हिंदी में साहित्य-रचना अधिक कल्याण-कर होगी। हमें इन बातों को ध्यान में रखकर ही हिंदी में साहित्य-रचना की योजना बनानी चाहिए। अपने देश के विभिन्न स्तरों के मनुष्यों की प्रत्यहिक और स्थायी प्रयोजनों का लेखा-जोखा करके और अपने देश के उन लेखकों का भी विचार करके जिनके द्वारा ज्ञान-विज्ञान की विभिन्न प्रगतियों को सुबोध भाषा में लिखा जाना संभव है, हमें अपना कार्यक्रम बनाना चाहिए।

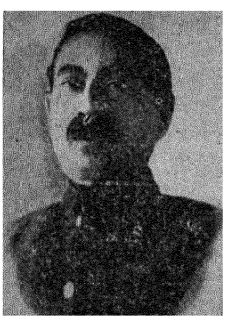
वस्तुतः हिंदी-साहित्य का निर्माण सर्व-भारतीय सामाजिक कल्याण की भावना से चालित होना चाहिए। इसी उद्देश्य को सामने रखकर हिंदी-सेवा के कार्य में अग्रसर होना आवश्यक है। राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय मैत्री के लिए साहित्यिक आदान-प्रदान ही सर्वोत्तम सेतु हो सकता है। भारतवर्ष की विभिन्न प्रादेशिक भाषाओं में एक दूसरे से यह आदान-प्रदान प्रयत्नपूर्वक और निश्चित योजना के अनुसार होना चाहिए; परंतु हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि समस्या केवल प्रादेशिक मैत्री तक ही सीमित नहीं है। हमें अंतरराष्ट्रीय साहित्य से भी आदान-प्रदान का क्रम शुरू कर देना चाहिए। इस कार्य में विलंब नहीं होना चाहिए। हिंदी में कार्य करनेवाली संस्थाओं को देश की अन्यान्य भाषाओं में कार्य करनेवाली संस्थाओं से संबंध स्थापित करके इस कार्य में तेजी ले

वस्तुतः हिंदी-साहित्य का निर्माण सर्व-भारतीय सामाजिक कल्याण की भावना से चालित होना चाहिए। इसी उद्देश्य को सामने रखकर हिंदी-सेवा के कार्य में अग्रसर होना आवश्यक है। राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय मैत्री के लिए साहित्यिक आदान-प्रदान ही सर्वोत्तम सेतु हो सकता है। भारतवर्ष की विभिन्न प्रादेशिक भाषाओं में एक दूसरे से यह आदान-प्रदान प्रयत्नपूर्वक और निश्चित योजना के अनुसार होना चाहिए; परंतु हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि समस्या केवल प्रादेशिक मैत्री तक ही सीमित नहीं है। हमें अंतरराष्ट्रीय साहित्य से भी आदान-प्रदान का क्रम शुरू कर देना चाहिए। इस कार्य में विलंब नहीं होना चाहिए। हिंदी

३—पूस की रात

श्री प्रेमचन्द

[स्वर्गीय प्रेमचन्दजी हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ उपन्यासकार और कथाकार माने जाते हैं। काशी के निकटवर्त्ती गाँव पाण्डेपुर में इनका जन्म श्रावण कृष्ण १०, संवत् १९३७ में हुआ और देहान्त संवत् १९९३ में हुआ। आपका यथार्थ नाम धनपतराय था।



'मर्यादा' और 'माधुरी' का सम्पादन भी आपने किया और बाद में स्वयं अपना प्रेस काशी में स्थापित कर 'हंस' और 'जागरण' का सम्पादन तथा प्रकाशन प्रारंभ किया। इस व्यवसाय में भी उन्हें घाटा ही रहा। उन्हीं दिनों बम्बई की एक फिल्म-कंपनी में वह चले गये, किन्तु अस्वस्थ हो जाने से वहाँ भी न रह सके और काशी लौट आये।

प्रेमचन्दजी ने अनेक पुस्तकों का अनुवाद किया और अनेक नाटक, कहानी-संग्रह तथा उपन्यास लिखे। हिन्दी कथा-साहित्य को आपने नवीन मोड़ पर लाकर खड़ा कर दिया और राजनीतिक तथा सामाजिक चेतनाओं के सफल चित्रण का सूत्रपात किया।

हिन्दी में प्रेमचन्दजी का व्यक्तित्व बेजोड़ था। उनका रहन-सहन सादा और वेश-भूषा सरल थी।

मुन्शी प्रेमचन्द हिन्दी में युगान्तरकारी कहानीकार और औपन्यासिक सम्राट् थे। इनकी कहानियाँ अत्यन्त मर्मस्पर्शी और काव्यात्मक हैं। मध्यश्रेणी के पारिवारिक जीवन एवं देहाती समाज का उन्हें विस्तृत और प्रगाढ़ अनुभव था।

इनकी भाषा सरल और साधारण बोलचाल के शब्दों से बनी है जिसमें उर्दू और संस्कृत के तत्सम शब्दों का सुन्दर सम्मिश्रण है।

हल्कू ने आकर स्त्री से कहा—सहना आया है। लाओ, जो रुपये रखे हैं उसे दे दूँ, किसी तरह गला तो छूटे।

मुन्नी झाड़ू लगा रही थी। पीछे फिरकर बोली—तीन ही तो रुपये हैं, दे दोगे तो कम्बल कहाँ से आयेगा? माघ-पूस की रात हार में कैसे कटेगी? उससे कह दो, फसल पर रुपये दे देंगे। अभी नहीं हैं।

हल्कू एक क्षण अनिश्चित दशा में खड़ा रहा। पूस सिर पर आ गया, बिना कम्बल के हार में रात को वह किसी तरह नहीं सो सकता। मगर सहना मानेगा नहीं, घुड़कियाँ जमावेगा; गालियाँ देगा। बला से जाड़ों मरेंगे, बला तो सर से टल जायगी। यह सोचता हुआ वह अपना भारी भरकम डील लिये हुए (जो उसके नाम को झूठ सिद्ध करता था) स्त्री के समीप गया और खुशामद करके बोला—ला, दे दे। गला तो छूटे। कम्बल के लिए कोई दूसरा उपाय सोचूँगा।

मुन्नी उसके पास से दूर हट गई और आँखें तरेरती बोली—कर चुके दूसरा उपाय! जरा सुनूँ, कौन उपाय करोगे? कोई खैरात दे देगा कम्बल? न जाने कितनी बाकी है, जो किसी तरह चुकने ही नहीं आती। मैं कहती हूँ, तुम क्यों नहीं खेती छोड़ देते? मर-मर काम करो, उपज हो तो बाकी दे दो, चलो छुट्टी। बाकी चुकाने के लिए ही तो हमारा जन्म हुआ है। पेट के लिए मजूरी करो। ऐसी खेती से बाज आए। मैं रुपये न दूँगी—न दूँगी।

हल्कू उदास होकर बोला—तो क्या गाली खाऊँ?

मुन्नी ने तड़पकर कहा—गाली क्यों देगा, क्या उसका राज है?

मगर यह कहने के साथ ही उसकी तनी हुई भौंहें ढीली पड़ गईं। हल्कू के उस वाक्य में जो कठोर सत्य था, वह मानों एक भीषण जन्तु की भाँति उसे घूर रहा था।

उसने जाकर आले पर से रुपये निकाले और लाकर हल्कू के हाथ पर रख दिए। फिर बोली—तुम छोड़ दो अबकी से खेती। मजूरी में सुख से एक रोटी खाने को तो मिलेगी। किसी की धौंस तो न रहेगी। अच्छी खेती है! मजूरी करके लाओ, वह भी उसी में झोंक दो, उस पर से धौंस।

हल्कू ने रुपये लिये और इस तरह बाहर चला, मानो अपना हृदय निकालकर देने जा रहा हो। उसने मजूरी से काट काट कर तीन रुपये कम्बल के लिए जमा किए थे। वह आज निकले जा रहे थे। एक-एक पग के साथ उसका मस्तक अपनी दीनता के भार से दबा जा रहा था।

[२]

पूस की अँधेरी रात! आकाश पर तारे भी ठिठुरते हुए मालूम होते थे। हल्कू अपने खेत के किनारे ऊख के पत्तों की एक छतरी के नीचे बाँस के खटोले पर अपनी पुरानी गाढ़े की चादर ओढ़े पड़ा काँप रहा था। खाट के नीचे उसका संगी कुत्ता जबरा पेट में मुँह डाले सर्दी से कूँ-कूँ कर रहा था। दो में से एक को भी नींद न आती थी।

हल्कू ने घुटनियों को गर्दन में चिमटाते हुए कहा—क्यों जबरा, जाड़ा लगता है? कहता तो था, घर में पुआल पर लेटा रह, तो यहाँ क्या लेने आया था? अब खाओ ठण्ड, मैं क्या करूँ। जानते थे, मैं यहाँ हलुवा-पूरी खाने आ रहा हूँ। दौड़े-दौड़े आगे-आगे चले आए। अब रोओ नानी के नाम को।

जबरे ने पड़े-पड़े दुम हिलाई और वह अपनी कूँ-कूँ को दीर्घ बनाता हुआ एक बार जम्हाई लेकर चुप हो गया। उसकी श्वान-बुद्धि ने शायद ताड़ लिया, स्वामी को मेरी कूँ-कूँ से नींद नहीं आ रही है।

हल्कू ने हाथ निकालकर जबरा की ठण्डी पीठ सहलाते हुए कहा—कल से मत आना मेरे साथ, नहीं तो ठण्डे हो जाओगे। यह राँड़ पछुआ न जाने कहाँ से बरफ लिये आ रही है। उठूँ, फिर एक चिलम भरूँ। किसी तरह रात तो कटे। आठ चिलम तो पी चुका। यह खेती का मजा है। और एक भागवान ऐसे पड़े हैं, जिनके पास जाड़ा जाय तो गर्मी से घबराकर भागे। मोटे-मोटे गद्दे, लिहाफ, कम्बल। मजाल है जो जाड़े का गुजर होजाय। तकदीर की खूबी है। मजूरी हम करें, मजा दूसरे लूटें!

हल्कू उठा और गड्ढे में से जरा-सी आग निकाल कर चिलम भरी। जबरा भी उठ बैठा।

हल्कू ने चिलम पीते हुए कहा—पिएगा चिलम ? जाड़ा तो क्या जाता है; हाँ, जरा मन बहल जाता है।

जबरा ने उसके मुँह की ओर प्रेम से छलकती हुई आँखों से देखा।

हल्कू—आज और जाड़ा खा ले। कल से मैं यहाँ पुआल बिछा दूँगा। उसी में घुसकर बैठना, तब जाड़ा न लगेगा।

जबरा ने अगले पंजे उसके घुटने पर रख दिये और उसके मुँह के पास अपना मुँह ले गया। हल्कू को उसकी गर्म साँस लगी।

चिलम पीकर हल्कू फिर लेटा और निश्चय करके लेटा कि चाहे कुछ हो अबकी सो जाऊँगा, पर एक ही क्षण में उसके हृदय में कंपन होने लगा। कभी इस करवट लेटता, कभी उस करवट, पर जाड़ा किसी पिशाच की भाँति उसकी छाती को दबाए हुए था।

जब किसी तरह न रहा गया, तो उसने जबरा को धीरे से उठाया और उसके सिर को थपथपा कर उसे अपनी गोद में सुला लिया। कुत्ते की देह से जाने कैसी दुर्गन्ध आ रही थी, पर वह उसे अपनी गोद से चिपटाये हुए ऐसे सुख का अनुभव कर रहा था, जो इधर महीनों से न मिला था। जबरा शायद यह समझ रहा था कि स्वर्ग यही है। हल्कू की पवित्र आत्मा में तो उस कुत्ते के प्रति घृणा की गन्ध तक न थी। अपने किसी अभिन्न मित्र या भाई को भी वह इतनी ही तत्परता से गले लगाता। वह अपनी दीनता से आहत न था, जिसने आज उसे इस दशा को पहुँचा दिया था। नहीं, इस अनोखी मैत्री ने जैसे उसकी आत्मा के सब द्वार खोल दिये थे और उसका एक-एक अणु प्रकाश से चमक रहा था।

सहसा जबरा ने किसी जानवर की आहट पाई। इस विशेष आत्मीयता ने उसमें एक नई स्फूर्ति पैदा कर दी थी, जो हवा के ठण्डे झोंकों को तुच्छ समझती थी। वह झपट कर उठा और छतरी के बाहर आकर भूँकने लगा। हल्कू ने उसे कई बार चुमकार कर बुलाया, पर वह उसके पास न आया। हार में चारों तरफ

दौड़-दौड़ कर भूँकता रहा। एक क्षण के लिए आ भी जाता, तो तुरन्त फिर दौड़ता। कर्तव्य उसके हृदय में अरमान की भाँति उछल रहा था।

[३]

एक घण्टा और गुजर गया। रात ने शीत को हवा से धधकाना शुरू किया। हल्कू उठ बैठा और अपने दोनों घुटनों को छाती से मिला कर सिर को उसमें छिपा लिया। फिर भी ठण्ड कम न हुई। ऐसा जान पड़ता था, सारा रक्त जम गया है, धमनियों में रक्त की जगह हिम बह रहा है। उसने झुक कर आकाश की ओर देखा, अभी कितनी रात बाकी है? सप्तर्षि आकाश में अभी आधे भी नहीं चढ़े। ऊपर आ जायेंगे तब कहीं सबेरा होगा। अभी पहर भर से ऊपर रात है।

हल्कू के खेत से कोई एक गोली के टप्पे पर आमों का एक बाग था। पतझड़ शुरू हो गई थी। बाग में पत्तियों का ढेर लगा हुआ था। हल्कू ने सोचा, चलकर पत्तियाँ बटोरूँ और उन्हें जला कर खूब तापूँ। रात कोई मुझे पत्तियाँ बटोरते देखे, तो समझे, कोई भूत है। कौन जाने कोई जानवर ही छिपा बैठा हो, मगर अब तो बैठे नहीं रहा जाता।

उसने पास के अरहर के खेत में जाकर कई पौधे उखाड़ लिये और उनका एक झाड़ू बनाकर हाथ में सुलगता हुआ उपला लिये बगीचे की तरफ चला। जबरा ने उसे जाते देखा, तो पास आया और दुम हिलाने लगा।

हल्कू ने कहा—अब तो नहीं रह जाता जबरू, चलो बगीचे में पत्तियाँ बटोर कर तापें। टाँठे हो जायेंगे, तो फिर आकर सोयेंगे। अभी तो रात बहुत है।

जबरा ने कूँ-कूँ करके सहमति प्रकट की और आगे-आगे बगीचे की ओर चला। बगीचे में घुप-अँधेरा छाया हुआ था और उस अंधकार में निर्दय पवन पत्तियों को कुचलता हुआ चला जाता था। वृक्षों से ओस की बूँदें टप-टप नीचे टपक रही थीं।

एकाएक एक झोंका मेहँदी के फूलों की खुशबू लिये हुए आया।

हल्कू ने कहा—कैसी अच्छी महक आई जबरू ? तुम्हारी नाक में भी कुछ सुगन्ध आ रही है ?

जबरा को वहीं जमीन पर एक हड्डी पड़ी मिल गई थी। वह उसे चिचोड़ रहा था। हल्कू ने आग जमीन पर रख दी और पत्तियाँ बटोरने लगा। जरा देर में पत्तियों का एक ढेर लग गया। हाथ ठिठुरे जाते थे। नंगे पाँव गले जाते थे और वह पत्तियों का पहाड़ खड़ा कर रहा था। इसी अलाव में वह ठण्ड को जलाकर भस्म कर देगा।

थोड़ी देर में अलाव जल उठा। उसकी लौ ऊपर वाले वृक्ष की पत्तियों को छू-छू कर भागने लगी। उस अस्थिर प्रकाश में बगीचे के विशाल वृक्ष ऐसे मालूम होते थे, मानो उस अथाह अन्धकार को अपने सिरों पर सँभाले हुए हों। अन्धकार के उस अनन्त सागर में यह प्रकाश एक नौका के समान हिलता, मचलता हुआ जान पड़ता था।

हल्कू अलाव के सामने बैठा आग ताप रहा था। एक क्षण में उसने दोहर उतार कर बगल में दबा ली, और दोनों पाँव फैला लिए। मानो ठंड को ललकार रहा हो, 'तेरे जी में जो आये सो कर।' ठंड की असीम शक्ति पर विजय पाकर वह विजय-गर्व को हृदय में छिपा न सकता था।

उसने जबरा से कहा—क्यों जब्बर, अब तो ठंड नहीं लग रही है ?

जब्बर ने कूँ-कूँ करके मानो कहा—अब क्या ठंड लगती ही रहेगी !

'पहले से यह उपाय न सूझा, नहीं तो इतनी ठंड क्यों खाते ?'

जबर ने पूँछ हिलाई।

'अच्छा आओ, इस अलाव को कूदकर पार करें, देखें कौन निकल जाता है ? अगर जल गये बच्चा, तो मैं दवा न करूँगा।'

जब्बर ने उस अग्नि-राशि की ओर कातर नेत्रों से देखा।

'मुन्नी से कल न कह देना, नहीं लड़ाई करेगी।'

यह कहता हुआ वह उछला और उस अलाव के ऊपर से साफ निकल गया। पैरों में जरा लपट लगी, पर वह कोई बात न थी। जबरा आग के गिर्द घूमकर उसके पास आ खड़ा हुआ।

हल्कू ने कहा—चलो-चलो, इसकी सही नहीं, ऊपर से कूद-कर आओ।

वह फिर कूदा और अलाव के इस पार आ गया।

[४]

पत्तियाँ जल चुकी थीं। बगीचे में फिर अँधेरा छाया था। राख के नीचे कुछ-कुछ आग बाकी थी, जो हवा का झोंका आ जाने पर जरा चमक उठती थी, पर एक क्षण में फिर आँखें बन्द कर लेती थी।

हल्कू ने सिर पर चादर ओढ़ ली और गर्म राख के पास बैठा हुआ एक गीत गुनगुनाने लगा। उसके बदन में गर्मी आ गई थी; पर ज्यों-ज्यों शीत बढ़ती जाती थी, उसे आलस्य दबाए लेता था।

जबरा जोर से भूँककर खेत की ओर भागा। हल्कू को ऐसा मालूम हो रहा था कि जानवरों का एक झुण्ड उसके खेत में आया है। शायद नील गायों का झुण्ड था। उनके कूदने और दौड़ने की आवाजें साफ कान में आ रही थीं। फिर ऐसा मालूम हुआ कि वह खेत में चर रही हैं। उनके चबाने की आवाज़ चर-चर सुनाई देने लगी।

उसने दिल में कहा—नहीं, जबरा के होते कोई जानवर खेत में नहीं आ सकता। नोच ही डाले। मुझे भ्रम हो रहा है। कहाँ, अब तो कुछ सुनाई नहीं देता। मुझे भी कैसा धोखा हुआ है।

उसने जोर से आवाज लगाई—जबरा, जबरा!

जबरा भूँकता रहा। उसके पास न आया।

फिर खेत के चरे जाने की आवाज सुनाई दी। अब वह अपने को धोखा न दे सका। उसे अपनी जगह से हिलना ज़हर लग रहा था। कैसा दंदाया हुआ बैठा था। ऐसे जाड़े-पाले में खेत में जाना, जानवरों के पीछे दौड़ना असूझ जान पड़ा। वह अपनी जगह से न हिला।

उसने जोर से आवाज लगाई—लिहो! लिहो!! लिहो!!!

जबरा फिर भूँक उठा। जानवर खेत चर रहे थे। फसल तैयार है। कैसी अच्छी फसल है, पर ये दुष्ट जानवर उसका सर्वनाश किए डालते हैं।

हल्कू पक्का इरादा करके उठा और दो-तीन कदम चला; पर एकाएक हवा का ऐसा ठण्डा, चुभनेवाला, बिच्छू के डंक-सा झोंका लगा कि वह फिर बुझते हुए अलाव के पास आ बैठा और राख को कुरेदकर अपनी ठण्डी देह को गर्माने लगा।

जबरा अपना गला फाड़े डालता था। नील गाएँ खेत का सफाया किए डालती थीं और हल्कू गर्म राख के पास शांत बैठा हुआ था। अकर्मण्यता ने रस्सियों की भाँति उसे चारों ओर से जकड़ रखा था।

उसी राख के पास गर्म जमीन पर वह चादर ओढ़कर सो गया।

सवेरे जब उसकी नींद खुली तब चारों तरफ धूप फैल गई थी और मुन्नी कह रही थी—आज क्या सोते ही रहोगे? तुम यहाँ आकर रम गए और उधर सारा खेत चौपट हो गया।

हल्कू ने उठकर कहा—क्या तू खेत से होकर आ रही है?

मुन्नी बोली—हाँ, सारे खेत का सत्यानाश हो गया। भला ऐसा भी कोई सोता है? तुम्हारे यहाँ मड़ैया डालने से क्या हुआ?

हल्कू ने बहाना किया—मैं मरते-मरते बचा, तुझे अपने खेत की पड़ी है। पेट में ऐसा दर्द हुआ कि मैं ही जानता हूँ।

दोनों फिर खेत के डाँड़ पर आये। देखा, सारा खेत रौंदा हुआ पड़ा है और जबरा मड़ैया के नीचे चित लेटा है, मानो प्राण ही नहीं।

दोनों खेत की दशा देख रहे थे। मुन्नी के मुख पर उदासी थी, पर हल्कू प्रसन्न था।

मुन्नी ने चिन्तित होकर कहा—अब मजूरी करके मालगुजारी भरनी पड़ेगी।

हल्कू ने प्रसन्न मुख से कहा—रात की ठण्ड में यहाँ सोना तो न पड़ेगा।

अभ्यास

१—हल्कू किसान की स्त्री ने पहले इनकार करके भी बाद में रुपये क्यों दे दिये?

२—कम्बल न खरीद सकने के कारण हल्कू को पूस की ठण्डी रातें किस प्रकार बितानी पड़ीं ?

३—अकर्मण्यता ने हल्कू को रस्सियों की भाँति क्यों जकड़ रखा था ? इसका क्या परिणाम हुआ ?

४—हल्कू का चरित्र-चित्रण अपने शब्दों में कीजिए ?

५—प्रेमचन्द जी की भाषा और कथा-शैली पर अपने विचार प्रकट कीजिए।



सूर के भगवान् श्रीकृष्ण

४—सूर-सुधा

सूरदास

[सूरदास का जन्म-संवत् १५४० और निर्वाण-संवत् १६२० माना जाता है। आपके जन्मांध होने के विषय में जो प्रवाद प्रचलित है, वह मिथ्या प्रतीत होता है। कारण आपने प्रकृति का, रंग-रूप का तथा मानव-चेष्टाओं का जैसा स्वाभाविक और सजीव वर्णन किया है, वैसा वर्णन जन्मांध के लिए सम्भव नहीं।



महाप्रभु वल्लभाचार्य के आप शिष्य थे। उन्हीं की आज्ञा से आपने श्रीमद्भागवत की कथा, पदों में गाई है। यही पद-संग्रह 'सूर-सागर' है।

सूरदासजी ब्रज भाषा के सर्व-श्रेष्ठ कवि थे। आपकी शृंगार और वात्सल्य संबंधी रचनाएँ बे-जोड़ हैं। कृष्ण के आप अनन्य भक्त थे। कृष्ण की बाललीला का अनुपम चित्रण आपके पदों में है। सूरदासजी की भाषा प्रचलित ब्रज भाषा है।]

(१)

बन्दों चरन-सरोज तिहारे।
सुन्दर स्याम कमल-दल लोचन, ललित त्रिभंगी प्रान-पियारे॥
जे पद-पदुम सदा सिव के धन, सिन्धु-सुता उर तैं नहिं टारे।
जे पद-पदुम तात-रिस-त्रासत, मन-बच-क्रम प्रहलाद सँभारे॥
जे पद-पदुम परस जल-पावन, सुरसरि-दरस कटत अघ भारे।

जे पद-पदुम परस रिषि-पतिनी बलि, नृग, ब्याध, पतित बहु तारे ॥
जे पद-पदुम रमत वृंदावन अहि-सिर धरि, अगनित रिपु मारे ।
जे पद-पदुम परसि ब्रज-भामिनी सरबस दै, सुत-सदन बिसारे ॥
जे पद-पदुम रमत पांडव-दल दूत भए, सब काज सँवारे ।
'सूरदास' तेई पद-पंकज त्रिविध ताप दुख-हरन हमारे ॥

(२)

अब कैं राखि लेहु भगवान् !
हौं अनाथ बैठ्यौ द्रुम डरिया पारधि साधे बान ॥
ताकैं डर मैं भाज्यौ चाहत ऊपर दुक्यौ सचान ।
दुहूँ भाँति दुख भयौ आनि यह, कौन उबारै प्रान ?
सुमिरत ही अहि डस्यौ पारधी, कर छूट्यौ संधान ।
'सूरदास' सर लग्यौ सचानहिं, जय-जय कृपानिधान ॥

(३)

सब तजि भजिए नन्दकुमार;
और भजे तैं काम सरै नहिं, मिटै न भव-जंजार ।
जिहिं जिहिं जौनि जन्म धार्‌यौ, बहु जोर्‌यौ अघ कौ भार ॥
तिहिं काटन कौ समरथ हरि कौ तीछन नाम कुठार ।
वेद-पुरान, भागवत, गीता, सब कौ यह मत सार;
भव-समुद्र हरि-पद-नौका बिनु, कोउ न उतारै पार ।
यह जिन जानि, इहीं छिन भजि, दिन बीते जात असार;
सूर पाइ यह समौ लाहु लहि, दुर्लभ फिरि संसार ॥

(४)

आजु हौं एक एक करि टरिहौं ।
कै तुमहीं, कै हमहीं माधव आपुन भरोंसे लरिहौं ॥
हौं तो पतित सात पीढ़िनि कौ पतितै ह्वै निस्तरिहौं ।
अब हौं उघरि नच्यौ चाहत हौं तुम्हैं बिरद बिन करिहौं ।
कत आपनि परतीति नसावत हौं पायो हरि हीरा ।
'सूर' पतित तब हीं उठि है प्रभु जब हँसि दैहौ बीरा ॥

अभ्यास

१—सूरदास के इन पदों में से आपको कौन-सा पद उत्कृष्ट प्रतीत होता है और क्यों ?

२—सूरदासजी के पदों का बड़ा संग्रह किस नाम से प्रसिद्ध है ?

३—हिन्दी-कवियों में सूरदास जी का क्या स्थान है ?

४—निम्न लिखित के समास बतलाइए :—

भव-समुद्र, हरि-पद-नौका, नन्दकुमार, कृपानिधान ।

५—सूरदास जी की भाषा की विशेषता पर अपने विचार प्रकट कीजिए।

५—लोकमान्य तिलक

श्री देवीदयाल चतुर्वेदी 'मस्त'

[हिन्दी के प्रख्यात पत्रकार, कथाकार, और कवि श्री देवीदयाल चतुर्वेदी 'मस्त' का जन्म २० जुलाई १९११ को देवरी (सागर, मध्य-प्रदेश) में हुआ। 'सरस्वती', 'मंजरी', 'बिजली' आदि सुप्रसिद्ध पत्रिकाओं के आप सम्पादक रह चुके हैं।

आपकी प्रतिभा बहुमुखी है। जब जो लिखा, सफलता ने उनका सदा वरण किया। बच्चों से लेकर बूढ़ों तक के लिए आपने साहित्य के विभिन्न अंगों को पुष्ट किया है। आपके द्वारा सम्पादित और लिखित कई पुस्तकें विभिन्न प्रदेशों के शिक्षा-विभागों द्वारा स्वीकृत पाठ्य-पुस्तकों के रूप में छात्र-वर्ग का हित-साधन कर रही हैं।

आपकी दर्जनों पुस्तकों में से निबन्ध-संग्रह 'अभिषेक' और धरती-आकाश', खण्ड काव्य 'रानी दुर्गावती', उपन्यास 'प्रवाह', 'अनुष्ठान' 'उड़ते पत्ते' और कहानी-संग्रह 'हवा का रुख', 'आवर्त्तन' 'रंगीन डोरे' आदि प्रमुख और यथेष्ट लोकप्रिय हैं।

'प्रवाह' पर आपको उत्तर प्रदेशीय सरकार द्वारा ५००) का पुरस्कार तथा 'हवा का रुख' पर उत्तर प्रदेशीय और मध्य प्रदेशीय सरकारों द्वारा क्रमशः ३००) और ५००) के दो पुरस्कार प्रदान किए जा चुके हैं।]

गणित का घण्टा था। स्कूल में एक कक्षा के सभी छात्र अपनी अपनी कापी-पेन्सिल लेकर चुपचाप प्रश्न हल कर रहे थे। एक छात्र बिना कापी-पेन्सिल के चुपचाप बैठा हुआ था; परन्तु अध्यापक की दृष्टि से वह कैसे बच सकता था ?

अध्यापक उस छात्र के निकट पहुँचा और पूछ बैठा—तुमने अब तक कापी पेंसिल नहीं निकाली ?

'मैं क्यों निकालूँ ?'

'क्यों, तुम्हें प्रश्न हल नहीं करना है ?'

'यह आप कैसे समझे ?'

'क्या मतलब है तुम्हारा ?'

'मैंने इसे जबानी हल कर लिया है।' और इस छात्र ने जो उत्तर दिया, वह बिलकुल ठीक था।



लोकमान्य तिलक

अध्यापक को चुप रह जाना पड़ा। यद्यपि अध्यापक ने प्रत्येक छात्र को क्लास में नोट बुक और पेन्सिल लेकर आने की कड़ी हिदायत दे रक्खी थी; परन्तु जिस छात्र की हम यह कहानी सुना रहे हैं,

वह कभी स्कूल में कापी-पेन्सिल लेकर नहीं गया। इस छात्र की प्रतिभा देखकर अध्यापक को चुप रह जाना पड़ता।

अध्यापक ने दूसरी युक्ति सोचकर इस छात्र के हठ को ठेस पहुँचानी चाही और आज्ञा दी—अच्छा, इस प्रश्न को श्याम-पट पर समझा दो।

परन्तु श्याम-पट पर प्रश्न हल करने में खड़िया की सफेदी हाथ में लग जाने की आशंका से यह छात्र उस प्रश्न को जबानी ही समझाने लगा।

'आखिर इसकी क्रिया अंकित कहाँ है?' अध्यापक ने बिगड़-कर पूछा।

'मेरे दिमाग में!'

निश्चय ही इस छात्र के दिमाग में गणित के साधारण-से प्रश्नों को ही नहीं, प्रत्युत बड़ी-बड़ी समस्याओं को हल करने की रूप-रेखा और क्रिया अंकित थी। वह बचपन से ही बड़ा निर्भीक, हठी, सत्यवादी और प्रतिभाशाली था। यदि ऐसा न होता, तो आगे चलकर होमरूल के दिनों में भारत के राजनीतिक क्षितिज पर एक अत्यन्त देदीप्यमान नक्षत्र की भाँति चमककर वह सहसा सबका ध्यान अपनी ओर आकृष्ट न कर सकता। और हम देखते हैं कि अपनी प्रतिभा, सेवा और त्याग के कारण यही छात्र बाल गंगाधर तिलक महाराष्ट्र का बिना ताज का बादशाह होकर रहा।

'स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है'—इस मन्त्र की दीक्षा तिलक ने ही भारत को दी। यद्यपि जिस युग में तिलक उत्पन्न हुए, उस युग की अनेक त्रुटियों के कारण वे स्वराज्य स्थापित नहीं कर सके; परन्तु स्वराज्य के मार्ग पर हमारे देश को खड़ा कर देने का श्रेय उन्हीं को है। तिलक प्रधानतः राजनीतिज्ञ थे; परन्तु उनकी प्रतिभा किसी एक क्षेत्र में सीमित नहीं थी। वे गणित के अध्यापक, ज्योतिष के विद्वान, कानून के पण्डित, भूगर्भ आदि अनेक विद्याओं के ज्ञाता, आदर्श पत्रकार, सच्चे धर्मज्ञ तथा भूगोल और इतिहास के प्रकाण्ड पण्डित थे। देश के लिए उन्होंने कठोर तपस्या की। यही सब देखकर भारतीयों ने उन्हें 'लोकमान्य' की संज्ञा प्रदान की।

इनका नाम बलवन्त राव तिलक था। इनके पिता का नाम

गंगाधर पन्त था। बचपन में बलवन्त राव को सभी लोग प्यार से 'बाल' कहा करते थे। यही कारण है कि इनका नाम 'बाल गंगाधर तिलक' हो गया।

तिलक की प्राप्ति उनके माता-पिता को कठोर तपस्या के बाद हुई थी। इनकी माता श्रीमती पार्वती बाई सनातन धर्म माननेवाली हिन्दू रमणी थीं। तीन कन्याएँ हो चुकने पर भी जब कोई पुत्र न हुआ, तब पुत्र-प्राप्ति की कामना से उन्होंने यथा-शक्ति दान-पुण्य किया, चान्द्रायण व्रत रक्खा, सूर्य्य की उपासना की और न जाने कितनी अन्य मन्नतें मानीं, तब कहीं उन्हें पुत्र-रत्न प्राप्त हुआ। ऐसा प्रतीत होता है, कि माता-पिता की इतनी कठोर तपस्या का ही यह सुफल था कि कोंकण के रत्नागिरि नामक नगर में जुलाई १८५६ ई० में जन्म लेनेवाले इस बालक ने भी अपनी मातृभूमि के लिए कठोर तपस्वी की भाँति अपना जीवन उत्सर्ग कर दिया।

तिलक के निर्माण में उनके पिता गंगाधर राव का बड़ा हाथ था। गंगाधर राव पन्त संस्कृत के पण्डित और ज्योतिष के प्रसिद्ध ज्ञाता थे। तिलक को बचपन से ही वे संस्कृत पढ़ाने लगे थे। उनके पढ़ाने का ढङ्ग भी बड़ा मनोरंजक था। उन्होंने संस्कृत के कुछ श्लोक चुनकर कागज के एक-एक टुकड़े पर लिख दिए थे और प्रत्येक श्लोक के साथ एक-एक पैसा रख, पुत्र से कह दिया कि श्लोक याद कर लो, कागज का टुकड़ा फाड़कर फेंक दो और उस पर रक्खा हुआ पैसा जेब में डाल लो।

तिलक प्रतिभाशाली तो थे ही। उन्होंने इस प्रकार अनेक श्लोक कण्ठस्थ कर लिए और इस प्रकार एक-एक पैसा जोड़ते हुए कई रुपए संचित कर लिए। यह रुपया उनके अपने परिश्रम का फल था। स्वभावतः इस पर उन्हें गर्व था और कंजूस की भाँति ममता भी थी।

एक दिन इनकी बड़ी बहिन ने इन्हें छेड़ते हुए कहा—बाल भैय्या, बड़ी भूख लगी है। कुछ पैसे दे दो, तो मूँग-फली मँगवा लूँ। तुम्हें भी दूँगी।

बलवन्त राव ने तत्काल मुँह बनाकर कह दिया—कुछ पैठे डे डो! बड़ी आई है। पैसा लेनेवाली! जब खर्राटे भरकर सोती रहती

हो, तब यह नहीं सूझता कि श्लोक याद करो और पिताजी से पैसे माँग लो। दूसरे की कमाई में हिस्सा लेने को तैयार हैं।

बहिन बेचारी चुप रह गई। उसके मुँह से एक भी शब्द नहीं निकला। परन्तु तिलक में अपनों के प्रति दया-ममता भी थी। कुछ देर में ही उन्होंने अपने पैसों में से कुछ पैसे निकालकर बहिन को दे दिए। भाई-बहिन ने मिलकर मूँगफलियाँ खाईं। तिलक को मूँगफली बहुत रुचती थी। परन्तु वह घर में ही मूँगफली आदि खाते थे। घर के बाहर कहीं कुछ न खाते थे।

तिलक जब मराठी पाठशाला में पढ़ते थे, तब एक दिन उनकी कक्षा के छात्रों ने छुट्टी के समय मूँगफलियाँ खाकर उनके छिलके वहीं कमरे में फेंक दिए। गुरुजी ने आते ही सब छात्रों को आज्ञा दी कि छिलके बटोरकर कमरे को साफ कर डालो। सब छात्र गुरुजी का आदेश मानकर छिलके उठाने लगे; परन्तु तिलक अपने स्थान पर ही बैठे रहे।

गुरुजी जानते थे कि तिलक को मूँगफलियाँ बहुत रुचती हैं। इसीलिए उन्होंने आँखें तरेरकर तिलक से कहा—बाल, तुम भी इन छिलकों की सफाई करो।

'मैं क्यों करूँ गुरुजी ?'

'इसलिए कि मूँगफलियाँ तुम्हें बहुत रुचती हैं और तुमने भी खाई होंगी।'

'रुचती हैं, परन्तु मैंने मूँगफलियाँ नहीं खाईं। फिर मैं छिलकों की सफाई क्यों करूँ ? जिन्होंने खाई हों, वही छिलके उठावें।'

गुरुजी ने तिलक के हठ से खीझकर उन्हें दण्ड देने के लिए छड़ी उठाई। यह देखकर कि अब मार पड़ेगी, अपनी स्लेट और पुस्तकें उठाकर तिलक ने अपने घर का रास्ता लिया।

इस पर गुरुजी ने तिलक के पिता को इस व्यवहार के लिए उपालम्भ भेजा। तिलक के पिताजी ने साफ लिख भेजा कि मेरा पुत्र घर के बाहर कोई चीज नहीं खाता और मुझे विश्वास है कि वह झूठ भी नहीं बोलता।

जिस बालक के रोम-रोम में सत्यता और निर्भीकता बचपन से ही इस प्रकार कूट-कूटकर भरी गई थी, वह अपने जीवन

में क्यों किसी से कभी दबकर रहता ? बी० ए०, एल०-एल० बी० होकर तिलक ने देश-सेवा में अपने आपको लगा दिया। राष्ट्र-शिक्षा के प्रचार की उस समय बड़ी आवश्यकता थी। तिलक ने यह कार्य तत्परता के साथ प्रारम्भ कर दिया। बालकों और तरुणों को राष्ट्रीय ढंग की शिक्षा देने के उद्देश्य से उन्होंने पूना में अनेक स्कूल और कालेज स्थापित कराए। स्वतन्त्र रूप से वकालत करनेवालों में राष्ट्रीयता और राष्ट्र-सेवा की भावनाएँ अंकुरित करने के लिए उन्होंने स्वयं कानून-कक्षा प्रारम्भ कर दी। जन-साधारण में राष्ट्रीयता की भावनाएँ भरने के लिए उन्होंने 'केसरी' और 'मराठा' नामक पत्रों का प्रकाशन प्रारम्भ किया।

अपने दोनों पत्रों 'केसरी' और 'मराठा' के द्वारा तिलक ने अन्याय और अत्याचारों के विरुद्ध न्याय का संग्राम छेड़ दिया। इसी सिलसिले में उन्हें तीन बार जेल-यात्रा करनी पड़ी। जनसेवा के लिए जेल-यात्रा करने का पहला उदाहरण लोकमान्य तिलक ने ही सन् १८८२ ई० में उपस्थित किया। इस बार तिलक को १०१ दिन के कारावास का दण्ड दिया गया।

सन् १८९७ ई० में पूना में भयङ्कर प्लेग फैला। इसमें सरकारी अधिकारियों ने जनता पर बड़े-बड़े अत्याचार किए। जनता में इन अत्याचारों की तीव्र प्रतिक्रिया हुई और इसी उत्तेजना में प्लेग के सबसे बड़े अँगरेज अधिकारी रैंड का खून तक हो गया। परन्तु तिलक के 'केसरी' पत्र की निर्भीक गर्जना ने जनता को वह साहस प्रदान किया, ऐसी शिक्षा दी, जो उस समय सर्वथा वांछनीय थी। तिलक ने अपना कर्त्तव्य पूरा किया; परन्तु सरकार की दृष्टि में यह राजद्रोह था। फलतः उन पर मुकदमा चलाया गया और उन्हें १८ महीने के कठोर कारावास का दण्ड दिया गया।

इन दो जेल यात्राओं के बीच में जो वर्ष बीते, उनमें तिलक ने राष्ट्रीय भावनाओं का न केवल खुलकर प्रचार किया; प्रत्युत जनता को संगठित करने की दिशा में भी अनेक उल्लेखनीय कार्य किए। इनमें वार्षिक गणेशोत्सव और शिवाजी-जयन्ती के सार्वजनिक आयोजन भी सम्मिलित हैं। इसी बीच पूना में हिन्दू-मुस्लिम दंगे हुए, उनमें भी तिलक ने हिन्दुओं को राष्ट्रीयता की पूर्ण रक्षा करते

हुए हिन्दुत्व की रक्षा और अनवरत बल-वृद्धि का सन्देश देकर स्वाभिमान को अक्षुण्ण बनाए रखने की आवश्यकता पर जोर दिया।

लोकमान्य की तीसरी जेल-यात्रा सन् १९०८ ई० में हुई। उस समय हमारे देश में इनके ही नेतृत्व में जनता द्वारा स्वदेशी प्रचार, विदेशी बहिष्कार, राष्ट्रीय शिक्षा और स्वराज्य का वैध आन्दोलन तीव्रता के साथ चल रहा था। इस दमन की प्रतिक्रिया अराजक दलों द्वारा बम-विस्फोट आदि के रूप में प्रकट होने लगी थी। इन अराजकवादियों को कुचल देने के लिए भीषण उपायों का सहारा लिया गया। इन बातों को भला लोकमान्य तिलक जैसा निर्भीक और सत्यवादी व्यक्ति क्योंकर सहन कर सकता था? इन सबकी आलोचना करते हुए उन्होंने अपने पत्र 'केसरी' में एक लेखमाला लिख डाली, जिसका शीर्षक था—'ये उपाय स्थायी नहीं हैं।' सरकार की दृष्टि में ऐसा लिखना एकदम राजद्रोह था। बस, तिलक पर मुकदमा चलाया गया और बम्बई हाईकोर्ट ने उन्हें छः वर्ष के द्वीपान्तर-वास का दण्ड दिया।

तिलक की निर्भीकता इस अवसर पर भी भभक उठी। हाईकोर्ट द्वारा दी गई इस सजा को सुनकर उन्होंने कहा—जूरी ने चाहे जो निर्णय किया हो, मेरा हृदय मुझसे कहता है कि मैं निर्दोष हूँ। जगत् की भवितव्यता पर प्रभुत्व रखनेवाली इस अदालत से श्रेष्ठ कोई दूसरी ही महाशक्ति है। सम्भव है कि उसके विधान में यही बात हो कि मैं जो राष्ट्रीय कार्य कर रहा हूँ, वह मेरी दैनिक स्वतन्त्रता की अपेक्षा, मेरे कष्टों और यातनाओं द्वारा ही अधिक फले-फूले।'

इस द्वीपान्तर-वास में तिलक बर्मा के माण्डले जेल में छः वर्ष तक रहे और वहीं आपने 'गीता रहस्य' लिखा, जिसकी गिनती गीता के सर्वश्रेष्ठ भाष्यों में की जाती है। आपके इस ग्रन्थ ने आध्यात्मिक विचार-पद्धति में क्रान्ति कर, भारत का महान् उपकार किया है। द्वीपान्तर-वास की यह सजा पूरी कर तिलक सन् १९१४ ई० में भारत लौट आए।

कांग्रेस की स्थापना सन् १८८५ ई० में हुई थी, परन्तु इसके दो वर्ष पूर्व ही लोकमान्य तिलक सार्वजनिक सेवा का पुरस्कार पाकर जेल-यात्रा कर चुके थे। कांग्रेस के साथ तिलक का सीधा सम्बन्ध

सन् १८९३ ई० से दीख पड़ता है। उस समय कांग्रेस उस राजनीतिक दल के हाथ में थी, जिसे उदारवादी दल कहा जाता है। वह दल लोकमान्य तिलक की उग्र राजनीति से बड़ा भय खाता था।

सन् १९०५ में बंग-विच्छेद ने बंगाल को झकझोर दिया और न केवल बंगाल, बल्कि सारे देश की निद्रा भङ्ग कर दी। इस अवसर पर लोकमान्य तिलक का बल बढ़ता दीख पड़ा। सन् १९०६ ई० में कांग्रेस का जो अधिवेशन दादा भाई नौरोजी की अध्यक्षता में हुआ, उसमें तिलक द्वारा प्रस्तुत राष्ट्रीय कार्यक्रम पहले-पहल स्वीकार किया गया और स्वराज्य-प्राप्ति के अपने लक्ष्य की घोषणा कर दी गई। इस प्रस्ताव से कांग्रेस का उदारवादी दल भयभीत हो उठा और तिलक की उग्रनीति से कांग्रेस को कोसों दूर रखने के उद्देश्य से उसने कुछ ऐसे कार्य किए जिनके कारण सन् १९०७ ई० में कांग्रेस का अधिवेशन ही भङ्ग हो गया। इस दल ने ऐसे नियमों की सृष्टि कर डाली कि तिलक-दल के अनुयायी उसमें प्रवेश ही न कर सकें।

यही वह समय था, जिसके एक वर्ष बाद अर्थात् सन् १९०८ ई० में तिलक को द्वीपान्तरवास की सजा दे दी गई और कांग्रेस एक चेतना-शून्य-सी संस्था रह गई। जब सन् १९१४ ई० में लोकमान्य तिलक अपनी सजा पूरी कर मांडले से स्वदेश लौटकर आए, तब दोनों दलों में समझौते की बातचीत चलने लगी और सन् १९१६ ई० में लखनऊ में कांग्रेस का जो अधिवेशन हुआ, उसमें कांग्रेस को तिलक का स्वागत करने का अवसर उपलब्ध हुआ। इसके पश्चात् सन् १९१७ से उदारवादी दल अपने-आप कांग्रेस से हटने लगा और कांग्रेस में इस प्रकार न केवल तिलक की विजय हुई, प्रत्युत उनकी विचार-धारा का प्रतिबिम्ब लेकर ही वह अग्रसर होने लगी।

पहला योरपीय महायुद्ध समाप्त होने पर जब सन् १९१८ ई० में वारसाई की सन्धि-परिषद् बैठी, तब कांग्रेस ने लोकमान्य तिलक को ही अपना प्रतिनिधि चुनकर वहाँ भेजा। सन् १९१९ में जब भारत में जलियाँवाला गोली-काण्ड हुआ, तब तिलक विलायत में ही थे। खिलाफत की हलचल भी उस समय हमारे देश में शुरू हो चुकी थी और महात्मा गान्धी भारतीय जनता का नेतृत्व कर रहे थे।

तिलक जब विलायत से लौटकर स्वदेश आए, तब गान्धी

जी का सत्याग्रह छिड़ चुका था। परन्तु विलायत से लौटने पर लोकमान्य तिलक अधिक समय तक इस लोक में न रह सके। पहली अगस्त, सन् १६२० को तिलक इस दुनिया से कूच कर गये। उनकी रथी के साथ हिन्दू-मुस्लिम जनता का अपार समुद्र श्मशान तक फैल गया था। महात्मा गान्धी और मौलाना शौकत अली इस अपार जन-समूह का नेतृत्व कर रहे थे।

तिलक की अन्त्येष्टि करके जब महात्मा गान्धी लौटे, तब अपार जन-समूह के सामने उन्होंने कहा—मेरा असहयोग आन्दोलन लोकमान्य तिलक की चिता-भस्म से उत्पन्न हुआ है। परन्तु लोकमान्य तिलक की राजनीति महात्मा गान्धी से सर्वथा भिन्न थी। एक बार स्वयं तिलक ने अपना सिद्धान्त गीता के शब्दों में महात्मा गान्धी को समझाते हुए कहा था—जो जैसा वर्ताव मुझसे करता है, मैं भी उसके साथ वैसा ही वर्ताव करता हूँ।

गान्धीजी पर लोकमान्य तिलक का बड़ा प्रभाव पड़ा था। जब गान्धीजी सन् १८६६ में पूना गये और दक्षिण अफ्रीका निवासी भारतीयों के सम्बन्ध में एक सभा करना चाहते थे, तब वह बाल गंगाधर तिलक से मिले और उनके परामर्श पर गोपाल कृष्ण गोखले से भी उन्होंने भेंट की। गान्धीजी पर इन दोनों का जो प्रभाव पड़ा, वह चिरस्मरणीय रहेगा! तिलक उन्हें हिमालय की भाँति महान्, उच्च, परन्तु अगम्य दिखलाई पड़े—लेकिन गंगा की पवित्र धारा के समान, जिसमें वह सरलतापूर्वक अवगाहन कर सकते थे।

गोखले और तिलक दोनों ही महाराष्ट्रीय ब्राह्मण थे। दोनों महान् देशभक्त थे और त्यागी भी। परन्तु इन दोनों की प्रकृति एक दूसरे से सर्वथा भिन्न थी। गोखले नरम थे, तो तिलक गरम। तत्कालीन विधान में सुधार करने के जहाँ गोखले पक्षपाती थे, वहाँ तिलक उसके पुनर्निर्माण के समर्थक थे। गोखले का सम्पर्क नौकरशाही से था, परन्तु तिलक नौकरशाही से सदा छेड़छाड़ किया करते थे।

गोखले का कहना था कि जहाँ संभव हो, वहाँ सहयोग करो और आवश्यकता पड़ने पर ही विरोध के पथ पर बढ़ो। परन्तु तिलक का झुकाव अवरोध उत्पन्न करने की ओर था। जहाँ गोखले शासन और उसके सुधार पर प्रमुखतः ध्यान देते थे, वहाँ तिलक

राष्ट्र और उसके निर्णय को ही प्रधानता देते थे। गोखले का पथ था प्रेम और सेवा का, तिलक का पथ था सेवा और कष्ट-सहन का। गोखले विदेशियों पर विजय प्राप्त करना चाहते थे; परन्तु तिलक उन्हें हटा देना चाहते थे—जैसा कि कांग्रेस ने अपने अन्तिम मोर्चे पर डटकर 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव स्वीकृत किया और इसी के बाद पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त की।

गोखले दूसरों की सहायता पर निर्भर करते थे, परन्तु लोकमान्य तिलक स्वावलम्बन पर भरोसा करते थे, गोखले उच्चवर्ग और वृद्धिवादियों की ओर ताकते थे, परन्तु तिलक जनसाधारण और करोड़ों की ओर अपनी दृष्टि रखते थे। गोखले का युद्धक्षेत्र था कौंसिल-भवन और तिलक की रणभूमि थी गाँव की चौपाल। गोखले का उद्देश्य ऐसा स्वशासन था, जिसके योग्य भारतीय अपने-आपको अँगरेजों की कसौटियों पर कसकर तैयार करें; परन्तु तिलक का उद्देश्य था स्वराज्य, जो प्रत्येक भारतीय का जन्मसिद्ध अधिकार था, और जिसे वह विदेशियों की सहायता अथवा बाधा की चिन्ता किए बिना ही प्राप्त करना चाहते थे।

तिलक ने इन विशेषताओं को पैतृक सम्पत्ति के रूप में प्राप्त किया था। उनके परदादा केशवराव तिलक ने वे दिन देखे थे, जब ईस्ट इण्डिया कम्पनी व्यापारिक न रह कर इस देश में अपना प्रभुत्व स्थापित करने लगी थी और भारत को परतन्त्रता की बेड़ियों में धीरे-धीरे जकड़ देने का श्रीगणेश कर चुकी थी। केशवराव चिखल गाँव के मुख्य सरकारी अधिकारी थे। उस समय स्वराज्य था। परन्तु जब ईस्ट इण्डिया कम्पनी का राज्य हुआ, तब केशवराव से अनुरोध किया गया कि जो काम आप मराठा राज्य में करते थे, वही काम इस कम्पनी के राज्य में भी करते रहें। इस पर केशवराव ने कह दिया था कि मैं नौकरी करूँगा तो स्वराज्य की, परराज्य की नहीं। और उस नौकरी को उन्होंने तत्काल ठुकरा दिया तथा पूजा-पाठ एवं जप-तप में अपना शेष जीवन बिता दिया।

ऐसे स्वाभिमानी, धर्मपरायण और देशभक्त परिवार में जन्म लेकर ही बाल गंगाधर तिलक में इतनी सारी विशेषताएँ एक साथ केन्द्रित हो सकी थीं। सन्देह नहीं कि लोकमान्य तिलक हमारे

राष्ट्रीय इतिहास में सदा अमर रहेंगे और उनके विचारों, उनकी कार्यप्रणाली एवं उनके तप-त्याग से हम भारतवासी सदा अनुप्राणित होते रहेंगे।

अभ्यास

१—किन गुणों के कारण लोकमान्य तिलक महाराष्ट्र के बिना ताज के बादशाह हो गए थे ?

२—लोकमान्य तिलक के बाल्यकाल की किसी घटना को लेकर इस कहावत की सत्यता प्रमाणित कीजिए कि होनहार बिरवान के होत चीकने पात।

३—अर्थ स्पष्ट कीजिए और वाक्यों में प्रयोग कीजिए:—
क्षितिज, प्रत्युत, उपालंभ, आकृष्ट, अराजकता

४—राष्ट्रपिता महात्मा गान्धी के इस कथन का आशय स्पष्ट कीजिए—'मेरा असहयोग आन्दोलन लोकमान्य तिलक की चिता-भस्म से उत्पन्न हुआ।'

५—लोकमान्य तिलक पर एक निबन्ध लिखिए।

६—शिवाजी-स्तवन

महाकवि भूषण

[महाकवि भूषण का जन्म लगभग संवत् १६७० में तिकवाँपुर (कानपुर, उत्तर प्रदेश) में हुआ था। छत्रपति शिवाजी के दरबार के आप एक सम्मानित कवि थे। आपकी कविता के नायक छत्रपति शिवाजी तथा वीर छत्रसाल थे, जो स्वयं लोकनायक थे। 'शिवराजभूषण' और 'शिवाबावनी' नामक ग्रंथों में छत्रपति शिवाजी के सम्बन्ध में भूषण ने और 'छत्रसाल-दशक' में राजा छत्रसाल के संबंध में भूषण ने जो कविता लिखी है, वह हिन्दू जाति को जागृत करने वाली वीर रस की अपूर्व देन है।

भूषण की कविता में वीर रस का पूर्ण परिपाक हुआ है। हिन्दी में भूषण वीर रस के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। इस रस के आप सम्राट् माने जाते हैं।

भूषण ने ब्रज भाषा में कविता की है; परन्तु वीर रस के अनुरूप उन्होंने बुन्देलखण्डी, फारसी, तुर्की आदि भाषाओं के शब्दों को भी अपनाया है। इस महाकवि का मृत्यु संवत् लगभग १७७२ माना जाता है।]

(१)

गरुड़ को दावा जैसे नाग के समूह पर
दावा नाग-जूह पर सिंह-सिरताज को।
दावा पुरहूत को पहारन के कूल पर,
दावा सबै पच्छिन के गोल पर बाज को॥
'भूषन' अखंड नवखंड-महि-मंडल में
तम पर दावा रवि-किरन समाज को।
पूरब पछाँह देस दच्छिन तें उत्तर लौं,
जहाँ पातसाही तहाँ दावा सिवराज को॥

(२)

साजि चतुरंग सैन अंग में उमंग धरि,
सरजा सिवाजी जंग जीतन चलत है।
'भूषन' भनत नाद बिहद नगारन के,
नदी-नद मद गैबरन के रलत है॥



छत्रपति शिवाजी

ऐल-फैल खैल-भैल खलक में गैल-गैल,
गजन की ठेल-पेल सैल उसलत है।
तारा सो तरनि धूरि-धारा में लगत जिमि
थारा पर पारा, पारावार यों हलत है।

(३)

बाने फहराने घहराने घंटा गजन के,
नाहीं ठहराने राव-राने देस-देस के।
नग भहराने ग्राम-नगर पराने सुनि
बाजत निसाने सिवराज जू नरेस के॥
हाथिन के हौदा उकसाने कुंभ कुंजर के,
भौन को भजाने अलि छूटे लट केस के।
दल के दरानन तें कमठ करारे फूटे,
केरा के-से पात बिहराने फन सेस के॥

(४)

ऊँचे घोर मंदर के अंदर रहनवारी,
ऊँचे घोर मंदर के अन्दर रहाती हैं।
कन्द-मूल भोग करैं कन्द-मूल भोग करैं,
तीन बेर खातीं ते वै तीन बेर खाती हैं॥
भूखन सिथिल अंग भूखन सिथिल अंग,
बिजन डुलातीं ते वै बिजन डुलाती हैं।
'भूषन' भनत सिवराज बीर तेरे त्रास,
नगन जड़ातीं ते वै नगन जड़ाती हैं॥

अभ्यास

१—भूषण की कविता में कौन-सा रस प्रधान है?

२—भूषण की भाषा के संबंध में आप क्या जानते हैं?

३—पहले और चौथे छन्द के अलंकारों का विश्लेषण कीजिए।

४—तत्सम रूप लिखिए :—

हलत, भौन, धूरि, गैल, पहारन, दच्छिन।

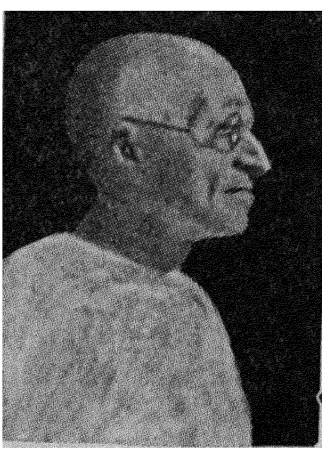
५—सरल भाषा में अर्थ समझाइए :—

'ऊँचे घोर मंदर के अन्दर·····नगन जड़ाती हैं।'

७—निर्दोष

चक्रवर्त्ती राजगोपालाचारी

[श्री राजगोपालाचारी जितने प्रसिद्ध राजनीतिक क्षेत्र में हैं, उतने ही साहित्य-क्षेत्र में भी। आप मद्रास के रहनेवाले और तमिल भाषा-भाषी हैं। आपकी पुस्तकें तमिल भाषा में ही लिखी गई हैं। उनके अनुवाद हिन्दी में भी हो चुके हैं। आपने महात्मा गांधी के नेतृत्व में स्वतंत्रता की लड़ाई में बहुत बड़ा भाग लिया था।



देश के स्वतंत्र होने के बाद आप पहले बंगाल के गवर्नर, फिर भारत के गवर्नर-जनरल नियत किए गए थे। आप मद्रास के मुख्य मंत्री भी रह चुके हैं। आपकी सादगी और सरलता अनुकरणीय है। आप कट्टर ईश्वर-विश्वासी हैं, जैसा कि इस कहानी से प्रतीत होता है। आपका जन्म सालेम जिले के होसूर नामक स्थान में सन् १८७९ में हुआ था।]

बालू पूरे चार वर्ष का बच्चा था। वह मातृहीन था। उसका पिता माधवराव उसे बहुत प्यार करता था। माधवराव की दूसरी पत्नी— सीथाम्मा सदा शिकायत करती कि बालू बिगड़ चुका है।

दीपावाली के ठीक एक दिन पहले की बात है। सन्ध्या हो चुकी थी और रात्रि का अन्धकार झुकने लगा था। लेकिन बालू, जो दोपहर से ही घर से कहीं चला गया था, अब तक लौटकर नहीं आया था। पति-पत्नी दोनों उसकी राह देखते रहे—बहुत देर तक। उन्हें आशा थी कि बालू अवश्य वापस आ जायगा। शायद वह

रास्ता भूल गया हो, अथवा यह भी हो सकता है कि इधर-उधर भटक रहा हो।

धीरे-धीरे रात के आठ भी बज चुके, लेकिन बच्चे के लौटने के कोई लक्षण न दिखे। ये लोग चिन्तित हो उठे। इन्होंने अपने मित्रों के घर पूछताछ की, लेकिन बच्चे का पता किसी को नहीं था। नगर भर में बच्चे की खोजबीन की गई, लेकिन कहीं कोई पता न लगा। अन्त में दस बजे रात को ये लोग पुलिस-थाने में गये और खोए हुए बच्चे की रिपोर्ट दर्ज करा दी।

'बच्चा कोई कीमती गहने पहने था?' इन्सपेक्टर संथाप्पा पिल्ले ने प्रश्न किया।

'एक जोड़ी पैर के चाँदी के कड़ों के अतिरिक्त कुछ भी नहीं।' माधवराव ने उत्तर दिया।

'क्या कीमत रही होगी उन कड़ों की?' इन्सपेक्टर ने पूछा।

'ओह, वे कड़े ठोस चाँदी के नहीं, बल्कि पोले थे—तीन रुपए के भी न होंगे।' माधवराव ने उत्तर देते हुए कहा।

पटाखों के विस्फोट और दीपोत्सव के मुखर वातावरण ने, जो पास-पड़ोस में व्याप्त था, माधवराव को अपेक्षाकृत अधिक उन्मन कर दिया। रात में उन्हें नींद नहीं आई। विषाद से उनका अन्तस्तल भरा रहा और खोए बच्चे का समाचार सुन सकने की व्यग्रता उन्हें बेचैन किए रही।

'मैं इस नौकर के सम्बन्ध में तुम्हें सतर्क रहने के लिए कह चुकी हूँ, लेकिन तुमने इधर कभी ध्यान नहीं दिया। मुझे तो इसके तौर-तरीके पसन्द नहीं।' सीथाम्मा ने कहा।

'उस गरीब को क्यों दोष देती हो? वह रात में ठीक आठ बजे तक यहीं था। बच्चा तो चार ही बजे से गायब है।' माधवराव ने गम्भीर मुद्रा से कहा।

विषाद और चिन्ता से घिरे हुए मन पर कभी-कभी साधारण-सी बात भी गहरा प्रभाव डाल देती है।

'आमतौर पर कन्नन (नौकर) दोपहर के बाद तीन बजे आ जाता है। आज वह पाँच बजे आया था। जब मैंने उससे देरी का कारण पूछा, तो उसने बाजार जाने और पूजन-सामग्री खरीदने का

बहाना बना दिया। मेरा सन्देह तो इसी नौकर पर है।' सीथाम्मा ने दृढ़तापूर्वक कहा।

पड़ोसी गोपाल अय्यर ने भी इस बात का समर्थन किया। कहा—उसने माधवराव, सन्देह करने का कारण है। घर के नौकरों की लापरवाही के बिना ऐसी घटनाएँ नहीं घटतीं।

वकील के मुंशी वासुदेव अय्यर ने भी अपना योगदान दिया—कन्नन रहता है मेलानाथम पल्ला स्ट्रीट में। चलो, हम थाने में उसकी रिपोर्ट लिखा दें।

वह रात इसी तरह बीत गई। दीपावली के सिलसिले में होने-वाले शोरगुल के साथ उषःकाल आया। पड़ोस में पटाखों का चट्-चट् शब्द पानी के उस स्वर से मिलकर एकाकार हो गया, जो प्रभात-वेला में बरतनों में भरा जा रहा था। माधवराव अपने विषाद और आँसुओं पर नियन्त्रण करने में सफल न हो सके। अपनी पहली पत्नी—बालू को माँ—की स्मृतियाँ सघन मेघों जैसी उनके हृदय-प्रदेश पर उमड़-घुमड़ रही थीं।

माधवराव अपने विषाद की हूक छिपा न सके। वह चीख उठे—मेरे बच्चे! किस दुष्ट के पंजे में तू जा फँसा? पता नहीं, किन मुसीबतों का सामना करना पड़ा होगा मेरे बच्चे को?

सीथाम्मा ने सान्त्वना देते हुए कहा—इतने निराश न हों, बच्चा अवश्य लौट आयेगा। ईश्वर उसकी रक्षा करेगा।

× × ×

दोपहर में बारह बजे खबर मिली की पुलिस को कुछ सुराग मिल गया है।

'पुलिस-थाने में जाकर देखिए क्या बात है।' सीथाम्मा ने कहा।

माधवराव का माली और नौकर कन्नन पुलिस-हवालात में बन्द थे। पुलिस ने उसके मकान की तलाशी ली थी और कुछ कपड़े तथा पटाखे बरामद किए थे। माधवराव ने उन कपड़ों को देखकर कह दिया कि वे कपड़े उनके बच्चे के नहीं थे।

बालू के चाचा रामचन्द्र राव ने कसम खाते हुए कहा कि पटाखों का पूड़ा वही है, जो उन्होंने एक दिन पहले उस बच्चे को

दिया था। पुलिस इन्सपेक्टर इस सूचना को पाकर यथेष्ट प्रसन्न दीख पड़ा। पुलिस की जाँच-पड़ताल के सिलसिले में अन्य अनेक बातें प्रकट हो गईं। पुलिस ने प्रत्यक्षदर्शियों की गवाही ली, जिन्होंने बतलाया कि बाजार में पूर्व दिशा की तरफ कन्नन के साथ बालू को जाते उन्होंने देखा था। कुछ गवाहों ने कहा कि उन्होंने बालू के हाथ में पटाखों का एक पूड़ा देखा था। स्थानीय पुत्रोशाला के एक वृद्ध चपरासी—वेलू पिल्ले—ने देखा था कि कन्नन उस बच्चे को एक केला भी दे रहा था।

प्रश्न किए जाने पर कन्नन ने कसम खाकर कहा कि यह सब उसे ज्ञात नहीं। उस दिन बच्चे के साथ बाजार जाने की बात भी उसने अस्वीकार कर दी। वेलू पिल्ले की बात को कन्नन ने दृढ़तापूर्वक गलत बताया—यह झूठ है। पता नहीं, वह क्यों ऐसा कह रहा है! इतने पर भी वह सन्देह का निवारण नहीं कर सका।

'यह सब बहुत सन्देहास्पद प्रतीत होता है।' इन्सपेक्टर ने कहा।

× × ×

'कसकर मार लगाई जाए उसे, तो फौरन सत्य प्रकट हो जाएगा।' सीथाम्मा ने कहा।

'पुलिस यह सब बहुत अच्छी तरह करेगी।' वकील के मुंशी वासुदेव अय्यर ने कहा।

माधवराव ने कोई टीका टिप्पणी नहीं की।

'हे भगवान्!' दासी ने गुनगुनाया, जो दरवाजे पर झाड़ू दे रही थी।

× × ×

'ओह, वे लोग मेरे पुत्र को अन्यायपूर्वक घोर यन्त्रणा दे रहे हैं। वे उसकी अंगुलियों में आलपीनें चुभो रहे हैं।' माधवराव के मकान के सामने एक वृद्धा चीख उठी। वृद्धा की बगल में उसकी साड़ी के सहारे एक बच्चा भी लटक रहा था।

'पुलिसवाले ऐसा नहीं करेंगे। वे सिर्फ काम के प्रश्न पूछेंगे। उससे सच बात कहला दो।' वकील के मुंशी वासुदेव अय्यर ने सलाह दी।

'स्वामी ! हमें इस मामले में कुछ भी मालूम नहीं । मेरा लड़का भी कुछ नहीं जानता । वे लोग मेरे लड़के के प्राण ले लेंगे । हम लोगों की रक्षा कीजिए। वही लड़का हमारी आशा है ! मैं इस बच्चे की कसम खाती हूँ ।' उस वृद्धा ने कहा और जोरों से विलाप करने लगी ।

'चुप रह ! यदि शोरगुल मचाया, तो तुझे भी जेल में बन्द कर दिया जाएगा । समझी ?' वासुदेव अय्यर ने धमकी देते हुए कहा ।

'दयालु भगवन् !' वृद्धा ने कहा और रोती-बिलखती पुलिस थाने की तरफ चली गई ।

× × ×

दूसरे दिन सबेरे आठ बजे गाय के कुछ चरानेवालों ने नगर के उत्तर में एक तालाब में किसी लड़के का शव उतराता हुआ देखा । इन चरवाहों ने यह सूचना पुलिस थाने में दे दी । शव-परीक्षा की जाँच-पड़ताल के लिए पुलिस ने माधवराव को अपने साथ ले लिया ।

बच्चे की गर्दन पर रक्तावरोध के सिलसिले में किए गए चिह्न अब तक विद्यमान थे । अन्य किसी चोट के चिह्न भी नहीं दीखते थे । बच्चे के पैरों से चाँदी के कड़े गायब थे । इन कड़ों के पहने रहने से जो गहरे काले धब्बे पैरों पर पड़ गए थे, वे किसी तरह अब भी दीख रहे थे । आस-पास जो भीड़ एकत्र हो चुकी थी, उसमें से कुछ लोग चिन्तित होकर अपना सिर हिला रहे थे और कह रहे थे—बेचारा बच्चा, न-कुछ तीन रुपए के चाँदी के कड़ों के लिए मार डाला गया ।

शव-परीक्षा से ज्ञात हुआ कि बच्चे की गर्दन पर फन्दा कसकर उसका रक्त-संचालन रोक दिया गया था । बच्चे के पेट में एक केला भी पाया गया था, जो अब तक पच नहीं सका था । कन्नन के खिलाफ मामला जोरदार होता जा रहा था । पुलिस ने अपनी तहकीकात और जाँच-पड़ताल अपेक्षाकृत सरगर्मी से जारी रक्खी; और कुछ दूसरे गवाह भी उसे मिल गए ।

× × ×

पुलिस ने कन्नन को खरी-खोटी सुनाई और हवालात के भीतर ही बन्द रखकर उससे अनेक प्रश्न पूछे ।

'उस केले से बच्चे को बेखबर करके तुमने उसे कहाँ छोड़ दिया था ? निकल बाहर, तुम...।'

कन्नन का उत्तर सिर्फ उसकी स्तब्धता और अकस्मात् भय-चकित मुद्रा में ही निहित था।

'इस आदमी के साथ सभ्यता से पेश आना व्यर्थ है। हथ-कड़ियाँ पहना दो इसे। मैं रात में आऊँगा और इससे आगे पूछ-ताछ करूँगा।' हेड कांस्टेबिल षण्मुखम् ने धमकी देते हुए कहा। षण्मुखम् अपनी निर्ममता के लिए उस नगर में विख्यात था।

'मैंने केले खरीदे थे त्यौहार के लिए। बच्चे ने मुझसे एक केला माँगा और मैंने उसे दे दिया। मैंने उसे घर भेज दिया। इसके बाद मैंने कुछ गुड़ और तेल खरीदा और मैं सीधा अपने घर मेला-नाथम चला गया। फिर मैं अपने मालिक के घर गया। अम्माँ ने पूछा कि मैं देर से क्यों पहुँचा। मैंने बतलाया कि त्यौहार के पूजन के लिए मुझे बाजार से बहुत चीजें खरीदनी थीं। यदि आप मुझ पर विश्वास नहीं करते, तो अम्माँ से पूछ लीजिए।' कन्नन ने सफाई देते हुए कहा।

× × ×

पुलिस की हवालात में कन्नन पन्द्रह दिन बन्द रहा। इसके बाद उसका अभियोग-पत्र अदालत में दाखिल किया गया और मुकदमे की पेशी हुई।

मजिस्ट्रेट इस नगर के लिए नया था परमात्मा से भय खाने वाला वह एक ईसाई था। उसने दस गवाहों के बयान लिए। जिरह करने पर बिना किसी लड़खड़ाहट के उन्होंने अपनी साक्षी दी। बाजार में उस बच्चे के साथ कन्नन की उपस्थिति, उसे केला देना और बाद में बच्चे का गायब हो जाना आदि बातें सिद्ध हो गईं। वेलू पिल्लई की गवाही ठीक थी। रामचन्द्रराव ने यह बात कसम खाकर कह दी कि पुलिस की जाँच-पड़ताल में कन्नन के घर में पटाखों का जो पूड़ा बरामद हुआ था, वह वही पूड़ा था, जो उसने बालू को दिया था। ऐसी गवाहियाँ होने पर सभी वकीलों ने सोचा कि कन्नन को सेशन सुपुर्द कर दिया जाएगा।

चार दिन के बाद मजिस्ट्रेट साहब ने अपना फैसला सुनाया—

'गवाही पर्याप्त नहीं है—अधूरी है। गवाहों के बयान से ऐसा मालूम पड़ता है कि एक निम्न जाति के व्यक्ति का जीवन उनकी समझ में बहुत सस्ता है। इन गवाहों ने तथ्यों पर अपनी मनचाही कल्पना का रंग भर दिया। शायद इस बात को लेकर कि लड़का मार डाला गया है, इन लोगों में जो घृणा भर चुकी होगी, उसी ने ऐसी गवाहियाँ देने को इन्हें प्रेरित किया है।'

मजिस्ट्रेट ने अपना यह निर्णय देकर कन्नन को मुक्त कर दिया। मजिस्ट्रेट के इस निर्णय के विरुद्ध नगर में एक गहन असन्तोष व्याप्त हो गया। नगरवाले उसकी निन्दा करने लगे। कहने लगे कि यह सब साम्प्रदायिक द्वेष का ही परिणाम है। यहाँ तक कि नगरवाले कन्नन के वकील वीराराघव आयंगर के विरुद्ध भी बातें करने लगे।

सेशन अदालत में मामले की पुनः जाँच करने के लिए अपील दायर कर दी गई।

माधवराव ने लोगों को रोकते हुए कहा—नहीं! यह मामला हमें खत्म कर देना चाहिए। क्या अब किसी भी दशा में मेरा मृत बच्चा पुनर्जीवित हो सकता है?

लेकिन मित्रों ने उसे अपील दायर करने पर विवश कर दिया। अपील की सुनवाई हुई। न्यायाधीश ने कहा कि मुकदमे की खारिजी भ्रम से भरी हुई है। यह मामला सेशन-सुपुर्द करना था।

यह सुनकर नगरवाले प्रसन्न हुए। पुलिस ने कन्नन को फिर गिरफ्तार कर लिया।

× × ×

तीन महीने के बाद इस मामले की सुनवाई सेशन अदालत में हुई। रामचन्द्रराव गवाही के कठघरे में गया और अच्छी तरह साक्षी दी। उसने दृढ़तापूर्वक कहा कि कन्नन के घर पाया गया पटाखों का पूड़ा वही था, जो उसने बालू को दिया था। जब बहुत से दूसरे पटाखों के पूड़ों के साथ उस पूड़े को पहचान लेने के लिए रामचन्द्रराव से कहा गया तो वह अकचका गया। अदालत में जो

दर्शक थे, उनमें से कुछ को हँसी आ गई। न्यायाधीश के कहने पर वे लोग चुप हो गये।

अन्त में न्यायाधीश ने कहा कि इस अभियोग को साबित करने के लिए जो गवाहियाँ हुई हैं, वे पर्याप्त नहीं है। जूरी एकमत थे और उन्होंने फैसला देते हुए कह दिया—निर्दोष!

न्यायाधीश ने अभियुक्त को मुक्त करते हुए कहा—जूरी के निर्णय से मैं सहमत हूँ। जब तक किसी व्यक्ति के खिलाफ असंदिग्ध शहादत न हो, उसे गिरफ्तार नहीं किया जाना चाहिए। मात्र परोक्ष प्रमाण पर तुम किसी व्यक्ति को गिरफ्तार नहीं कर सकते।

× × ×

वर्षों बाद स्थानीय पुलिस को ट्रिची पुलिस से एक सूचना प्राप्त हुई। सूचना में लिखा था कि लालगुड़ी के निकट पुराने चोरों का एक दल पकड़ा गया है और यह पता चलता है कि इन चोरों ने विभिन्न गाँवों के बच्चों का अपहरण कर उनके आभूषण लूट लेने के अनेक जुर्म किए हैं। इसी रिपोर्ट में यह भी लिखा गया था कि एक स्त्री ने यह स्वीकार किया है कि तीन वर्ष पहले उसने एक बाजार से किसी बच्चे का अपरहरण किया था। और उसे चोरों के इस दल की सौंप दिया था। उस बच्चे को मार डाला गया था, और उसके पैरों के कड़े लूटकर मृत बच्चे को एक तालाब में फेंक दिया गया था।

माधवराव ने जब यह सुना तो उसने कहा—देखो सीथा! मैंने कहा था न कि कन्नन निर्दोष था! अब यह सूचना इसका प्रमाण है। गरीब कन्नन! हम लोगों के कारण उसे क्या-कुछ नहीं भोगना पड़ा!

सीथाम्मा को अब भी विश्वास नहीं हुआ—हाँ...लेकिन उसने वह केला क्यों दिया था बच्चे को? इस मामले में आप क्या कहना चाहते हैं?

माधवराव ने कहा—उसने जो केले अपने घर के लिए खरीदे थे, उन्हीं में से एक केला दिया था। इसमें बुरा क्या था? फिर वह अपने घर चला गया और बच्चा चोरों के इस दल के पंजे में पड़ गया, जिसने उसका अपहरण किया और उसे मार भी डाला।

'फिर बच्चे के पटाखों के उस पूड़े के सम्बन्ध में आपकी क्या कैफियत है, जो कन्नन के घर में पाया गया था ?' सीथाम्मा ने प्रश्न किया।

'हम कैसे जान सकते हैं कि वही पूड़ा था वह ? क्या हम जानते नहीं, रामचन्द्रराव ?' माधवराव ने उत्तर देते हुए कहा।

रामचन्द्रराव वहीं मौजूद था। वाद-विवाद में भाग लेते हुए कहा उसने—सो तो ठीक है, लेकिन अदालत में जब तुम साक्षी देते हो, तब भ्रामक रूप में कुछ नहीं कह सकते। जो कुछ तुम कहोगे, उस पर दृढ़ रहना पड़ेगा। न्यायाधीश स्वयं देख सकता है कि पटाखों का एक पूड़ा दूसरे अनेक पूड़ों जैसा ही है। लेकिन मुझे क्यों उसके सम्बन्ध में सन्देह होना चाहिए ?

'यह बात ही नहीं है, रामचन्द्रराव। वहाँ तो दूसरी ही बात है। वास्तविक रहस्य का किसी को पता नहीं।' वकील वीराराघव ने माधवराव के मकान में प्रवेश करते हुए कहा।

'वह रहस्य क्या है ? कृपापूर्वक हमें भी बतलाइए।' रामचन्द्रराव ने अनुरोध किया।

'सत्य तो यह है कि कन्नन के मकान में पटाखों का जो पूड़ा पाया गया था, वह बालू का ही था। यह भी सत्य था कि कन्नन ने बालू को एक केला दिया था और धूर्त्तता से उससे पटाखों का पूड़ा ले लिया था। जब वह हवालात में बन्द था, तभी मैंने उससे यह पूछा था—'तुमने यह क्यों किया ? पटाखों के एक पूड़े के लिए क्यों एक बच्चे की हत्या की ?' और उसने जो कहानी सुनाई, वह यह थी—'मैंने बच्चे की हत्या नहीं की। मेरा बच्चा पटाखों का एक पूड़ा चाहता था। मेरे पास इतना पैसा नहीं था। इसीलिए मैंने बालू से पटाखों का पूड़ा लिया, उसे एक केला दिया और उसको घर भेज मैं मेलानाथन में अपने घर चला गया।' उस समय इस कहानी पर मैंने विश्वास नहीं किया। मुझे यह भी लगा कि वह झूठ बोल रहा है और हत्या के लिए वही दोषी है। 'यदि तुम अदालत में यह बात कहोगे, तो तुम्हारे खिलाफ मुकदमा जोरदार हो जायगा। उसी बात पर दृढ़ रहो, जो तुमने पुलिस से कही है और कहो कि पटाखों के पूड़े के सम्बन्ध में कुछ मालूम नहीं।' मैंने उसे हिदायत दी थी।'

जब वीराराघव आयंगर अपनी बात पूरी कह चुके, तब सीथाम्मा ने आश्चर्यान्वित होकर कहा—'हे भगवान्! क्या वकील इसी तरह गैरईमानदार होते हैं? क्या सत्य पर पर्दा डालना ही तुम्हारा धन्धा है?

'इन बातों को तुम क्यों जानने लगीं? अभियुक्त अपने वकीलों पर विश्वास करके जाने कितनी ऐसी बातें कह देते हैं। लेकिन वही सारी बातें यदि खुली अदालत में वे प्रकट कर दें, तब मुवक्किल और वकील के बीच का अन्तर स्पष्ट न हो जायगा?' रामचन्द्रराव ने अपना महान् सिद्धान्त बतलाया।

× × ×

'यह ठीक ही है, मिस्टर वीराराघव आयंगर! यदि कन्नन पटाखों के पूड़े के सम्बन्ध में यथार्थ बात कह डालता तो बहुत सम्भव है, वह फाँसी पर लटका दिया जाता। एक निर्दोष व्यक्ति अपने प्राणों से हाथ धो बैठता।' माधवराव ने समर्थन करते हुए कहा।

'देखिए, आप सबने मेरा मजाक उड़ा दिया! अब देखिए, हो चुका न सिद्ध कि पटाखों के पूड़े की मेरी पहचान दुरुस्त थी?' रामचन्द्रराव ने कहा।

'बड़े आदमियों के घर में नौकरी करना सदा जोखिम का काम है।' कुंजाम्मा ने कहा।

'कहाँ जोखिम है?' सीथाम्मा ने पूछा।

'बच्चों को आजकल गहने नहीं पहनाना चाहिए और सड़कों पर भी उन्हें घूमने न देना चाहिए।' उस दासी ने कहा; और उस स्नेहशीला ने सीथाम्मा के बच्चे को गोद में लेकर उसका चुम्बन ले लिया।

'मैं अब घर जा रही हूँ, मालकिन! घर की सभी चीजों की देख-भाल कीजिए।' कुंजाम्मा ने कहा और वह चली गई।

× × ×

कुंजाम्मा ने एक गम्भीर सत्य पर प्रकाश फेंक दिया था। सचमुच धनवान् के यहाँ किसी गरीब का नौकरी करना जोखिम का काम है। नगण्य-सी बातों को लेकर भी उस पर अविश्वास कर लिया



पुलिस ने कन्नन से प्रश्न पूछे

जाता है। लेकिन ये गरीब यदि किसी की नौकरी न करें, तो उनकी गुजर कैसे हो ? भगवान् उनकी रक्षा करे।

अभ्यास

१—माधवराव का माली और नौकर पुलिस-हवालात में क्यों बन्द किया गया ?

२—कन्नन (नौकर) के खिलाफ अभियोग क्यों पुष्ट होता जा रहा था ?

३—मजिस्ट्रेट ने कन्नन को मुक्त क्यों कर दिया ?

४—क्या सत्य पर पर्दा डालना ही वकीलों का धन्धा है ?
इस सम्बन्ध में इस कहानी से उदाहरण देकर आप अपना अभिमत व्यक्त कीजिए।

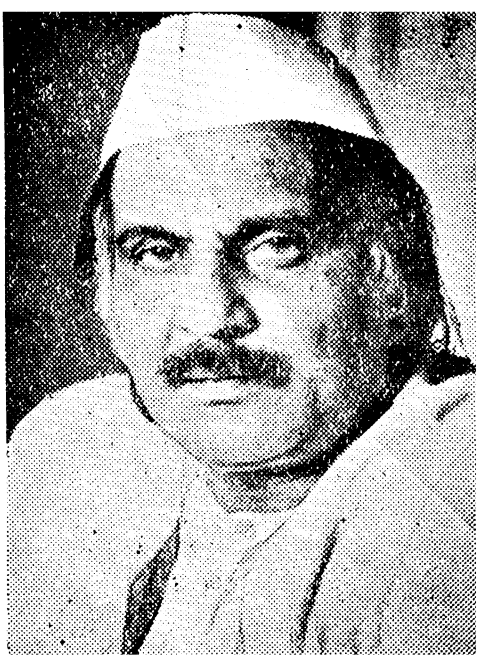
५—इस कहानी में कथाकार ने क्या सन्देश दिया है ?

———

८—वैज्ञानिक कथा-साहित्य

डा० सम्पूर्णानन्द

[उत्तर प्रदेश के मुख्य मंत्री डाक्टर सम्पूर्णानन्द का जन्म १ जनवरी १८९० को काशी में हुआ था। राष्ट्रपति महात्मा गांधी द्वारा संचालित असहयोग आन्दोलन ने जिन अनेक प्रतिभाशाली विद्वानों को कार्यक्षेत्र में अवतीर्ण होने का सुअवसर प्रदान किया और जन-साधारण ने जिनके तेजस्वी व्यक्तित्व



का अपूर्व लाभ उठाया तथा जिन्होंने राष्ट्रीय जीवन को शक्तिशाली बनाने में कुछ उठा नहीं रक्खा, उनमें श्री संपूर्णानन्दजी का महत्वपूर्ण स्थान है।

आप चतुर राजनीतिज्ञ ही नहीं, कुशल सम्पादक, शिक्षाविद्, दार्शनिक और यशस्वी लेखक भी हैं। आपकी कई पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। 'समाजवाद' नामक पुस्तक पर आपको १२०० रु० का मंगलाप्रसाद पारितोषिक दिया जा चुका है।]

वैज्ञानिक कहानी में कहीं-न-कहीं, किसी-न-किसी प्रकार विज्ञान का समावेश होना चाहिए, अन्यथा नाम सार्थक न होगा; परन्तु विज्ञान व्यापक शब्द है। गरमी में सुराही के पानी का ठण्डा होना भी 'विज्ञान' है और परमाणु-बम का विस्फोट भी। इन उदाहरणों के बीच में सहस्रों प्रकार के वैज्ञानिक दृग्विषय हैं, जिनका उपयोग कथानक में किया जा सकता है। परन्तु इतना व्यापक अर्थ लेने से तो सभी उपन्यास और गल्प वैज्ञानिक कहानी की कोटि में आ जायँगे। ऐसा मानना किसी को अभीष्ट नहीं है। जहाँ एक ओर विज्ञान पर शास्त्रीय प्रवचन करना वैज्ञानिक कहानी का उद्देश्य नहीं है, वहीं यह भी जान लेना चाहिए कि दैनिक जीवन की वैज्ञानिक घटनाओं के समावेश-मात्र से कोई कहानी वैज्ञानिक कहानी नहीं बन जाती।

किसी कहानी में ऐसी आश्चर्यजनक बातों का उल्लेख होना, जिनके लिए उस समय के विज्ञान-भण्डार से आधार न मिलता हो, उस कहानी को कोरी कल्पना बना देता है। वस्तुतः क्या असम्भव है, यह कहना बहुत कठिन है; परन्तु किसी काल-विशेष में उन्हीं बातों को सम्भव कहना चाहिए जो उस काल के वैज्ञानिकों के अनुभव से बहुत दूर न हों, इतना दूर न हो कि वैज्ञानिकों ने उनके सम्बन्ध में सोचना भी आरम्भ न किया हो। 'चन्द्रकान्ता' और 'चन्द्रकान्ता सन्तति' में बा० देवकीनन्दन खत्री ने जिस प्रकार के तिलिस्मों और तिलिस्मी हथियारों की चर्चा की है, वे उस समय नहीं बन सकते थे, जब तिलिस्मों का निर्माण हुआ था। देवकीनन्दनजी के समय में भी कहीं उनका अस्तित्व नहीं था और आज भी ऐसी चीजों के निर्माण की ओर किसी का ध्यान नहीं है। इससे भी बड़ी बात यह है कि देवकीनन्दनजी ने अपने उपन्यासों में वैज्ञानिक ढंग की बातों का उसी प्रकार और उसी दृष्टि से उपयोग किया है, जो रसोत्पादन के इच्छुक कवि के सामने उद्दीपन विभाव से काम लेते समय रहती हैं। मुख्य वस्तु तो आलम्बन है। तिलिस्म, तिलिस्मी खंजर, तिलिस्मी पुतले—यह सब निकाल दिए जायँ, तब भी अमुक कुमार का अमुक कुमारी से विवाह हो जाता और छिपा धन हाथ लग जाता।

जूल्स वर्न्स की पुस्तकें भिन्न प्रकार की हैं। वह जिस समय लिखी गईं उस समय यूरोप में विज्ञान का विकास हो रहा था और वैज्ञानिक तथ्यों को व्यापार और युद्ध में अधिकाधिक लगाने की ओर लोगों का ध्यान गया हुआ था। कई शोधों का व्यावहारिक उपयोग नहीं हुआ था, परन्तु भावी उपयोग की आभा कुछ-कुछ दीख पड़ रही थी। निश्चय ही वर्न्स ने कल्पना से काम लिया, परन्तु वह निर्बाध और निराधार नहीं थी। इसी लिए वह फलीभूत भी हुई। पनडुब्बी (सब-मैरीन) बनने पर वर्न्स की कहानी 'ट्वण्टी थाउजेण्ड लीग्स अण्डर दि सी' की याद आना स्वाभाविक था। विज्ञानांश निकाल देने पर कथानक प्रायः बच भी नहीं रहता। अतः इन रचनाओं को वैज्ञानिक कहानियों की कोटि में रखना ही होगा।

कभी-कभी वैज्ञानिक के चित्त में कोई शंका उत्पन्न हो उठती है, कोई स्वप्न स्फुरित हो उठता है। वह उस शंका और स्वप्न को शब्दों में व्यक्त करने का भी साहस नहीं करता; ऐसी बातों को बुद्धि की अनर्गल दौड़ समझता है; परन्तु ऐसे झीने आधार पर भी कहानी लिखी जा सकती है और लोगों के कुतूहल को बढ़ा सकती है। उदाहरण के लिए, कानन-डायल की 'दि ग्रेट काइनप्लाट्ज एक्सपेरिमेण्ट' और वेल्स के 'दि टाइम मशीन' नाम की कहानियों को देखिए। डायल की कहानी में दो व्यक्ति थोड़ी देर के लिए अपने चित्त (या सूक्ष्म शरीर ?) आपस में बदल लेते हैं और वेल्स के पात्र एक यन्त्र पर चढ़कर भविष्यत् काल की सैर करते हैं। कोई वैज्ञानिक अपने मुँह से यह नहीं कहेगा कि ऐसी बातें सम्भव हैं, परन्तु इन कहानियों के मूल में मनुष्य की कुछ प्रबल सहज मनोवृतियाँ हैं। मनुष्य यह जानना चाहता है कि क्या शरीर से पृथक् चेतना की सत्ता है ? इस प्रश्न का उत्तर धर्म और दर्शन से तो मिलता है, परन्तु यह आशा होने लगी है कि स्यात् विज्ञान की सहायता से प्रयोग-मूलक अकाट्य उत्तर मिल सके। दूसरी प्रवृत्ति काल के आवरण को छेदने की है। इसी प्रेरणा से फलित ज्योतिष का आश्रय लिया जाता है। यह आशा व्यक्त की जाने लगी है कि स्यात् विज्ञान कोई सुलभ उपाय निकाल सके। ऐसी कहानियों में विज्ञान की छाया-मात्र उपलब्ध होती है। उन कहानियों में भी, जिनको

अन्य कारणों से वैज्ञानिक कहानी कहना उचित प्रतीत होता है; बहुधा ऐसी बातें मिलती हैं, जिनको विज्ञान नहीं विज्ञानाभास ही कह सकते हैं।

एक दिन आकाश में उड़ना सम्भव होगा, यह बात विज्ञान-सम्मत है। चन्द्रमा तक तो बीस-पच्चीस वर्षों में पहुँच जाना सुकर प्रतीत होने लगा है, परन्तु आकाश-यात्रा हँसी-खेल नहीं है। अभी तो कोई ऐसा ईंधन ही नहीं निकला, जो विश्वसनीय हो, सुलभ हो, सस्ता और हलका हो। मनुष्य का शरीर पृथ्वी और दूसरे ग्रहों के आकर्षण-क्षेत्रों के बाहर जाते और भीतर प्रवेश करते समय के तनाव को कहाँ तक सह सकेगा और दीर्घ काल तक आकाश-भ्रमण से कोई नए शारीरिक या मानस-रोग तो नहीं उत्पन्न होंगे, यह भी प्रायः अज्ञात है। जिन आकाश-प्रान्तों के भ्रमण की चर्चा कहानियों में की जाती है वह लाखों ज्योतिर्वर्ष दूर हैं। एक वर्ष में प्रकाश जितनी दूर चलता है, उसे ज्योतिर्वर्ष कहते हैं। एक ज्योतिर्वर्ष ५८,६५,६६,६०,-००,००० मील होता है। आज सुपरसोनिक, अतिध्वनि गति से कुछ हवाई जहाज चलने लगे हैं। अतिध्वनि का अर्थ हुआ शब्द से द्रुत-तर गति अर्थात् लगभग ७५० मील प्रति घण्टा से अधिक वेग। ऐसे हवाई जहाज को एक ज्योतिर्वर्ष की दूरी पार करने में लगभग डेढ़ लाख वर्ष लग जायँगे। यदि निकट भविष्य में आकाश-यान बने भी तो उनकी गति क्या होगी, यह नहीं कहा जा सकता; परन्तु यदि उसे ५०,००० मील प्रति सेकण्ड मान लें, तो भी एक ज्योतिर्वर्ष पार करने में लगभग ४ वर्ष लगेंगे। इस गणना से निकटतम तारे के पास जाकर लौटने के लिए ५० वर्ष चाहिए; परन्तु कहानियों में ऐसी यात्राएँ महीनों में समाप्त कराई जाती हैं।

मैंने अपनी पुस्तक में जिस यात्रा को सात वर्षों में समाप्त कराया है, उसमें ५०,००० मील प्रति सेकण्ड की गति से भी कई पीढ़ियाँ लग जाती थीं। अच्छे कहानीकार इस वैज्ञानिक कठिनाई से अनभिज्ञ नहीं हैं। पीढ़ियों तक फैलाने से कहानी की रोचकता समाप्त हो जायगी, परन्तु दूरी की सत्ता से आँख नहीं मोड़ी जा सकती। यहीं पर विज्ञानाभास से काम लिया जाता है।

बहुधा कहानियों में 'स्पेस-ड्राइव' की चर्चा होती है। साधा-

रणतः हमारे अनुभव में दिक् की तीन दिशाएँ—आगे-पीछे, दाएँ-बाएँ, ऊपर-नीचे आती हैं, परन्तु ऐसा माना जाने लगा है कि दिक् की एक चौथी दिशा भी है, सम्भवतः चार से भी अधिक दिशाएँ हों। चौथी दिशा में यदि किसी प्रकार प्रवेश किया जा सके, तो साधारण लोगों के लिए तो अन्तर्धान होने का चमत्कार होगा; परन्तु तीन दिशाओं वाली यात्रा की बहुत-सी अड़चनें दूर हो जायँगी। यह बात उदाहरण से समझी जा सकती है। यदि किसी कीड़े को, जो केवल सीधा चलना जानता है, काशी से लहासा जाना हो तो उसे न जाने कितने नदी-नाले और पहाड़ पार करने होंगे और रेंगकर चलनेवाले की यह यात्रा बड़ी लम्बी होगी। परन्तु जो वायुयान में उड़ सकता है, अर्थात् जो दिक् की ऊपर-नीचेवाली तीसरी दिशा में चल सकता है, वह उड़कर बात-की-बात में वहाँ पहुँच जायगा। कुछ ऐसा समझा जाता है कि इसी प्रकार चतुर्थ दिशा में यात्रा करके लम्बी दूरियाँ अल्पकाल में पार की जा सकती हैं। ऐसी ही, परन्तु इससे कुछ क्लिष्ट कल्पना, काल के सम्बन्ध में भी की जा सकती है। ऐसी धारणाओं के लिए वैज्ञानिक आधार तो है, पर वह बहुत पुष्ट नहीं है। वास्तविक वैज्ञानिक इतनी दूर तक सोचने का साहस नहीं करता। इसी लिए कहता हूँ कि इन कहानियों की तह में विज्ञानाभास है।

वैज्ञानिक कहानी लिखनेवाले के सामने कई उद्देश्य हो सकते हैं। एक तो वह सरल और रुचिकर भाषा में विज्ञान के नये आविष्कारों का ज्ञान देना चाहता है। जिस प्रकार कविता में कान्तासम्मित-शैली से नीति और धर्म का उपदेश किया जाता है, उसी प्रकार कथा-रूप से नई खोजों का परिचय प्राप्त कराया जाता है। कथा तो बहाना-मात्र है, उससे कोरे वैज्ञानिक वर्णन का रूखापन दूर हो जाता है। दूसरा उद्देश्य इससे आगे जाता है। इस समय खोज की जो स्थिति है और जिस प्रकार प्रगति हो रही है, उससे इस बात का अनुमान किया जा सकता है कि अगले पचीस या पचास वर्षों में हमारा ज्ञान कहाँ तक पहुँचेगा और उसका किस प्रकार उपयोग किया जायगा। कहानीकार इस अनुमित प्रगति को आधार बना सकता है। कभी-कभी अनुमान को सहस्र-दो-सहस्र वर्ष आगे खींच लाया जाता है। यह स्पष्ट है कि वर्तमान काल से जितनी ही

दूर की बात सोची जायगी, उतना ही अनुमान अनिश्चित होगा और कल्पना का आधार ज्ञानाभास से भी झीना होगा।

अतीत या अनागत काल में न जाकर वर्तमान काल के सम्बन्ध में भी बहुत-सी ऐसी बातों का वर्णन होता है, जिनका आधार बहुत ही पतला है। कहानियों में करोड़ों कोस दूरस्थित ग्रहों के जीवों की चर्चा की जाती है। वस्तुस्थिति यह है कि यह भी निश्चित नहीं है कि हमारे सौर-परिवार के दूसरे ग्रहों—मंगल, शुक्र, गुरु आदि पर किसी प्रकार के प्राणी हैं या नहीं। इतना ही कहा जा सकता है कि यदि उन पर प्राणी हैं तो वह पार्थिव प्राणियों से भिन्न हैं, क्योंकि उन ग्रहों पर साँस लेने के लिए आक्सिजन नहीं है। बिना आक्सिजन के जीनेवाले कैसे होते होंगे, इसका हमको न अनुभव है, न अनुमान की सामग्री। करोड़ों कोस पर जो दूसरे सूर्य हैं, उनके साथ ग्रह हैं, इस बात का कोई प्रमाण नहीं है; परन्तु ऐसा अनुमान किया जाता है कि हमारे सूर्य में कोई विलक्षणता तो है नहीं, अन्यत्र भी कुछ ग्रह होंगे ही। विवश होकर उन पर आक्सिजन की कल्पना करनी पड़ती है। इतना करने के बाद जीवों के जो आकार सोचे जाते हैं, वह पार्थिव प्राणियों से बहुत भिन्न नहीं होते। दो की जगह हाथ-पाँच की संख्या कुछ बढ़ा दी जाय, आँख-कान के रंग-रूप में कुछ अन्तर कर दिया जाय, आकार कुछ घटा-बढ़ा दिया जाय; परन्तु घूम-फिरकर पार्थिव प्राणियों की अनुकृतियाँ ही स्थापित की जा सकी हैं। चेतना की व्यापकता को विज्ञान स्वीकार करता है। यह भी माना जा सकता है कि जिस प्रकार पृथ्वी पर चेतना वनस्पतियों में प्रसुप्त-प्रायः है, परन्तु पशु-पक्षियों में विकसित होकर बुद्धिरूप से प्रकट हुई है तथा मनुष्य में उसका पूर्ण प्रकाश दीख पड़ता है उसी प्रकार यह सम्भव है कि अन्यत्र उसका विकास वनस्पतियों में ही हो जाय, या पशुओं का कोई वर्ग-विशेष बुद्धिवल्लभ बन जाय। मनुष्य भी तो शुद्ध विज्ञान की दृष्टि से एक प्रकार का पशु ही है। इस बात के सहारे मनुष्य से भिन्न बुद्धियुक्त जीवों की भी कल्पना की जाती है, परन्तु ऐसे जीवों से मनुष्यों का वार्तालाप-सम्बन्ध कराना कठिन प्रतीत होता है, इसलिए दूसरे पिण्डों पर भी मनुष्य से मिलते-जुलते जीवों को बसाने में ही कहानी-लेखक को सुगमता होती है।

साहित्य का एक उद्देश्य शिवेतरक्षति, अमंगल को दूर करना है। कभी-कभी इस उद्देश्य से भी वैज्ञानिक कहानियाँ लिखी जाती हैं। किसी दिशा-विशेष में विज्ञान की जैसी प्रगति इस समय हो रही है वह किसी लेखक को समाज के लिए भयावह प्रतीत हो सकती है। वह कल्पना के सहारे यह दिखलाने का प्रयत्न करता है कि एक दिन इस दिशा में बढ़ने का भयानक दुष्परिणाम हो सकता है। आज परमाणु-विघटन के जो प्रयोग हो रहे हैं, उनसे एक दिन मानव-समाज का ही संहार हो सकता है। इस बात को लेकर कई कहानियाँ लिखी गई हैं। मेरी पुस्तक के 'सामूहिक आत्मघात' और 'रकासों का लोक' शीर्षक अध्याय इसके उदाहरण हैं। पहले में परमाणु-शक्ति के दुरुपयोग के परिणाम की चर्चा है, दूसरे में यह दिखलाने का यत्न किया गया है कि आजकल जो एलेक्ट्रानिक ब्रेन बनाए जा रहे हैं, ऐसे यन्त्र निकाले जा रहे हैं, जो गणना करने तथा शब्द और प्रकाश तथा स्पर्श का अनुभव करने और इन अनुभवों का संकलन करके अनुकूल प्रतिक्रिया करने में मनुष्य से कई गुना अधिक सूक्ष्मग्राही तथा गतिशील हों, उसका विचित्र परिणाम हो सकता है। जिस यन्त्र को नाड़िजाल से भी सूक्ष्म काम करने वाले तारों से सजा दिया गया हो, यदि चेतना नाम की अज्ञात-स्वरूपा वस्तु का आश्रय वह बन गया तो क्या होगा? यन्त्र में कुछ विशेष कामों के करने की क्षमता और प्रवृत्ति होगी; परन्तु वह धर्म-बुद्धि नहीं हो सकती, जो समाज के सहस्रों वर्षों की अनुभूतियों का निष्कर्ष होती है। ऐसा यन्त्र भस्मासुर का काम कर सकता है—अपने स्रष्टा के संहार के लिए ही उद्यत हो सकता है।

इस थोड़े-से विवेचन से वैज्ञानिक कहानी-साहित्य के स्वरूप, लक्ष्य और वर्तमान परिस्थिति का कुछ परिचय तो हो गया होगा। मैंने इस बात की ओर भी संकेत किया है कि ऐसी कहानी लिखने वाले के मार्ग में क्या बाधाएँ हैं और वह उनको किस प्रकार दूर करता है। इतना स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि ऐसी कहानी लिखने के लिए उसी को कलम उठानी चाहिए, जिसकी विज्ञान में अच्छी गति हो। उसे विज्ञानवेत्ता पहले होना चाहिए, कहानी-लेखक पीछे। जानकार को ही कल्पना करने का अधिकार है। चलती

कहानी लिखकर उसमें जहाँ-तहाँ वैज्ञानिक पुट दे देना वैध नहीं है, कम-से-कम अच्छी वैज्ञानिक कहानियों के लेखक ऐसा नहीं करते।

मैंने बराबर 'कहानी' शब्द का प्रयोग किया है। मैं यह नहीं कह सकता कि यह अंग्रेजी के 'फ़िक्शन' का यथार्थ पर्याय है या नहीं। 'फ़िक्शन' में उपन्यास के साथ-साथ उस प्रकार का कथा-साहित्य भी अन्तर्भूत है जिसको 'स्टोरी' कहते हैं। सम्भवतः कहानी का व्यवहार स्टोरी के अर्थ में ही होता है। अस्तु, मेरे ध्यान में बराबर 'स्टोरी'-साहित्य ही रहा है, उसे हिन्दी में गल्प या कहानी जो कुछ भी कहें। इसका कारण यह है कि अभी सफल वैज्ञानिक उपन्यास लिखना असम्भव है। अंग्रेजी में भी कोई सफल वैज्ञानिक उपन्यास नहीं है। ऐसी पुस्तकें हैं जिनमें कई अध्याय हैं, अध्यायों की घटनाओं में पौर्वापर्य है; परन्तु इतने से ही उपन्यास नहीं बनता। वस्तुतः यह पुस्तकें विभिन्न घटनाओं के चित्रों के संग्रह हैं। प्रत्येक घटना दूसरे से पृथक् है। एच० जी० वेल्स ने एक रचना में मंगलवालों से पृथ्वी पर आक्रमण कराया है। यहाँ घटनाएँ परस्पर सम्बद्ध तो हैं, परन्तु समूची पुस्तक कल्पनामूलक इतिहास है, उपन्यास नहीं।

उपन्यास का नायक कई विभिन्न परिस्थितियों और अनुभूतियों में डाला जाता है और प्रत्येक अवस्था में उसकी भावनाओं और प्रवृत्तियों का निरूपण किया जाता है। पात्र के मनोभावों का अंकन, चरित्र का विकास, उपन्यास की विशेषता है। शास्त्रीय अध्ययन हो या न हो, परन्तु उपन्यास का सफल रचयिता मनोविज्ञान का मार्मिक ज्ञाता होता है। वैज्ञानिक उपन्यास के लेखक के मार्ग में दो कठिनाइयाँ हैं। यदि वह चरित्र-चित्रण को मुख्य स्थान देता है, तो विज्ञान का स्थान गौण हो जायगा और वैज्ञानिक कथा-साहित्य के प्रधान उद्देश्य का परित्याग करना होगा। कुशल लेखक स्यात् इसको बचा ले जाय, क्योंकि उपन्यास का कलेवर विस्तीर्ण होता है, परन्तु दूसरी कठिनाई अजेय है, कम-से-कम अब तक अजित है। उपन्यास के पात्र कौन हों, मनुष्य या कोई दूसरे प्राणी? यदि मनुष्य रखे जाते हैं तो ऐसा उपन्यास दूसरे उपन्यासों से किस बात में भिन्न हुआ? प्रत्येक उपन्यास में अपने युग के

अनुसार अप्रत्यक्ष रूप से कुछ वैज्ञानिक वर्णन तो रहता ही है। आजकल के साधारण उपन्यासों में बिजली की बत्ती, वायुयान, परमाणु-विघटन की चर्चा रहती है, कुछ नये यन्त्रों का उल्लेख मिलता है। ऐसा विषय थोड़ा और बढ़ा देने-मात्र से कोई नवीनता नहीं आती। कथानक का क्षेत्र पृथ्वी से उठाकर पचास करोड़ दूर के पिण्ड पर डाल देने से जब तक वही चिरपरिचित प्रणय, वात्सल्य, ईर्ष्या, क्रोध, लोभ आदि चित्रित किए जाते हैं, तब तक उपन्यास भिन्नवर्गीय नहीं कहला सकता, न वह नवीनतामूलक कुतूहल ही उत्पन्न कर सकता है।

इसका परिहार करने के लिए लोगों ने मनुष्य से भिन्न प्रकार के जीवों की कल्पना करके उनको पात्र बनाना चाहा, पर इस जगह कठिनाई का पहाड़ सामने खड़ा हो जाता है। हमको मनुष्य के मनोविज्ञान का भी पूरा ज्ञान नहीं है, दूसरे जीवों का तो कहना ही क्या है? पशु-पक्षियों के व्यवहार में अपने साथ साम्य देखकर चित्तसाम्य का कुछ-कुछ अनुमान होता है पर इसकी भी सीमा है। बन्दर, मछली, मक्खी की बुद्धि के भीतर कौन प्रवेश कर सका है? क्या हमको बच्चों की मानस-क्रियाओं का पूरा ज्ञान है? जिनको पागल कहा जाता है, उनके मस्तिष्क की गतिविधि को कौन पहचानता है? वस्तुतः भौतिक विज्ञान की अपेक्षा मनोविज्ञान में बहुत कम उन्नति हुई है। हमको मानव-चित्त का तो यत्किंचित् अनुभव है परन्तु उसके सिवाय हम कुछ नहीं जानते। यदि योगी तथा देव-देवी होते हों तो उनकी बुद्धि का विकास कैसा होता होगा, यह हमारी समझ के बाहर की बातें हैं। चित्त की प्रवृत्ति जैसी होगी, वैसी शारीरिक चेष्टा होगी। इस जगह हम पूर्णतया अशक्त हैं। विवश होकर अपने पात्रों से मनुष्य जैसा आचरण कराना पड़ता है। आकृति चाहे जैसी खींच दें, परन्तु व्यवहार मनुष्यों-जैसा होता है, अतः उपन्यास सीधा-सादा पृथ्वी पर का मनुष्य-समाज से सम्बन्ध रखनेवाला उपन्यास बन जाता है। कोई नवीनता नहीं होती। जब तक नये मनोविज्ञान की अवगति या कल्पना न हो, तब तक अच्छे वैज्ञानिक उपन्यास नहीं बन सकते।

परन्तु कहानियों के लिए विशाल क्षेत्र है। भारत में तो ऐसे

साहित्य की बड़ी आवश्यकता है। इसके द्वारा शुद्ध विज्ञान में अभिरुचि उत्पन्न होगी और लोगों का साधारण ज्ञान बढ़ेगा।

अभ्यास

१—वैज्ञानिक कहानी में किन तत्त्वों का समावेश अपेक्षित है ?

२—वैज्ञानिक कहानी लिखनेवाले के सामने साधारणतः कौन-से उद्देश्य रहते हैं ?

३—उपन्यास के नायक को विभिन्न परिस्थितियों में क्यों डाला जाता है ?

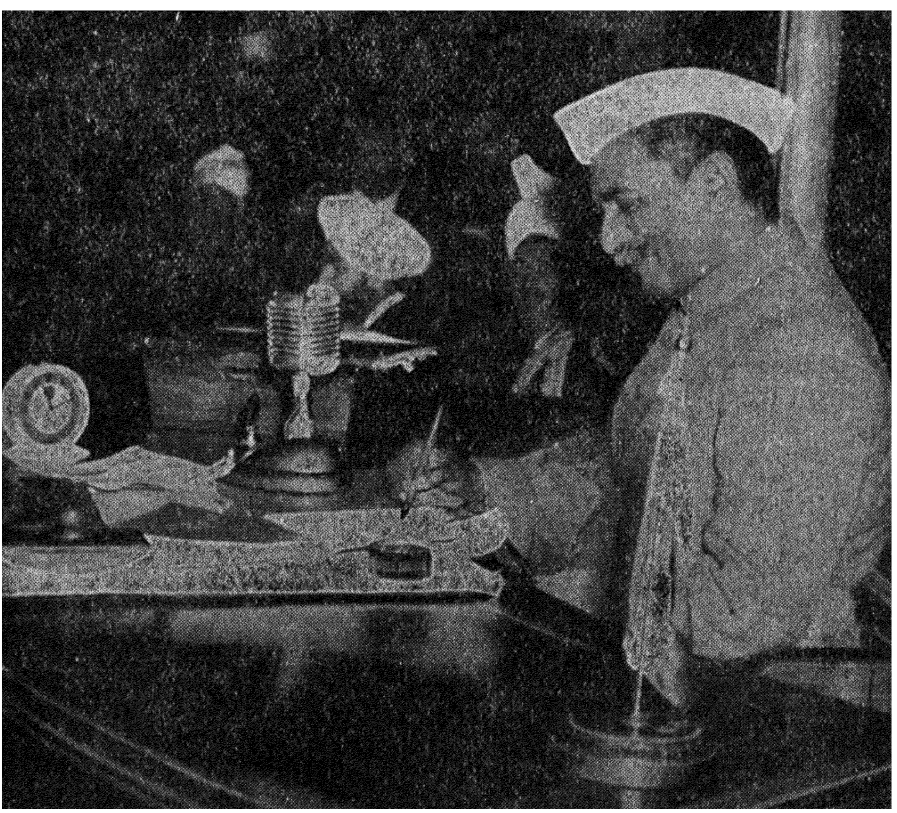
४—अर्थ बतलाइए और वाक्यों में प्रयुक्त कीजिए :—
कान्ता-सम्मित-शैली, अनुमित, अनागत, वस्तुस्थिति।

५—निम्नलिखित शब्दों के समास बतलाइए और सन्धि-विग्रह कीजिए :—
बुद्धिवल्लभ, अन्तर्भूत, भस्मासुर, यत्किंचित्

६—मेरी योरप-यात्रा

राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्रप्रसाद

[डॉ० राजेन्द्रप्रसाद प्रजातंत्र भारत के प्रथम राष्ट्रपति हैं। विधान-परिषद् के अध्यक्ष भी आप रह चुके हैं। अ० भा० काँग्रेस और अ० भा० हिन्दी साहित्य-सम्मेलन के भी आप अध्यक्ष रह चुके हैं।



राजेन्द्र बाबू का जन्म जीरादेई (सारन, बिहार) में ३ दिसंबर १८८४ को हुआ था। बचपन से आप मेधावी छात्र थे। एम० ए० और एम० एल० की परीक्षाओं तक आप सदा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुए और छात्रवृत्तियों, रजत अथवा स्वर्ण-पदक से आप सम्मानित किए गए।

पटना हाईकोर्ट के नामी वकीलों में आपका प्रमुख स्थान था। आपकी मासिक आय पन्द्रह हजार रुपए तक पहुँच गई थी; परन्तु भारत की गरीबी और परतंत्रता को दूर करने का संकल्प लेकर वह देश-सेवा के कँटीले मार्ग के पथिक बन गए।

सत्य और अहिंसा पर आपका अगाध विश्वास है। सादा जीवन और उच्च विचार के आप ज्वलन्त उदाहरण हैं। गांधीवाद मानो राजेन्द्र बाबू में साकार हो उठा है।

राष्ट्रभाषा हिन्दी के आप अनन्य उपासक हैं। हिन्दी में वह धाराप्रवाही और हृदयग्राही भाषण देने की कला में पारंगत हैं। आपकी 'आत्मकथा' आपके हिन्दी-प्रेम का ज्वलन्त प्रमाण है। इसे आपने हिन्दी में ही लिखा है। इसी 'आत्मकथा' से एक उद्धरण यहाँ दिया जा रहा है।]

बाबू हरिजी के मुकदमे में डुमराँव के महाराज ने प्रिवी कौन्सिल में अपील कर दी थी। बाबू हरिजी चाहते थे कि मैं भी वहाँ के बैरिस्टरों की मदद के लिए जाऊँ। उन्होंने असहयोग के आरंभ के समय से ही मुझसे वचन ले लिया था कि उनके मुकदमे में मैं बराबर काम कर दूँगा। कुछ यह भी लालच हुई कि इसी बहाने विदेश की यात्रा भी हो जायगी। मैंने सर्दी के लिए गर्म कपड़े बनवाए। मैं बराबर केवल खादी ही पहना करता था। वहाँ जाकर भी इस नियम को भङ्ग करना मैंने उचित न समझा। इसलिए कश्मीरी ऊन के कपड़े ही खादी-भंडार द्वारा मँगाकर बनवाए। कपड़े की काट-छाँट भी देशी रखी। अँगरेजी पोशाक न पहनने का ही निश्चय कर लिया। फलस्वरूप दो बातें हुईं। बहुत कम खर्च में काम के लायक काफी कपड़े तैयार हो गए। पोशाक चूँकि हिन्दुस्तानी थी, इसलिए उसमें कुछ भूल अथवा भद्दापन भी हो, तो कोई विदेशी समझ नहीं सकता था। अँगरेजी पोशाक और रहन-सहन अख्तियार करने पर उन लोगों के फैशन और राजनीति के अनुसार ही चलना-फिरना, कपड़ा पहनना और खाना-पीना पड़ता है। अपने रहन-सहन कायम रखने से यह सब झंझट दूर हो जाती है।

मार्च के आरम्भ में ही, एक शुभ दिन को, मैं घर से रवाना होकर बम्बई पहुँचा। वहाँ से, महात्मा गांधीजी से बिदा लेने के लिए

साबरमती चला गया। कैसर-हिन्द जहाज में बम्बई से चला। यह मेरी पहली विदेश-यात्रा थी। मैं यहाँ भी उन लोगों के संगर्ग में बहुत न पड़ा, जो विदेशी ढंग से रहते और खाते-पीते हैं। इसलिए जहाज पर किसी भी देशी या विदेशी यात्री से एक-दो दिनों तक मुलाकात या बातचीत नहीं हुई। पर इतना मैं देखता था कि मेरी हिन्दुस्तानी पोशाक की ओर बहुतेरों की आँखें जाती थीं। मैं डेकपर अपनी कुर्सी रखकर कुछ पुस्तकें पढ़ता अथवा टहलता रहता। समुद्र बहुत शान्त था। इसलिए किसी किस्म की मतली, चक्कर वगैरह मुझे नहीं आया। दो दिनों के बाद एक अँगरेज सज्जन मेरे नजदीक आये। मुझसे वे बातें करने लगे। मेरे खद्दर के कपड़े और एकान्त में चुप बैठे रहने से उनका और उनकी स्त्री का ध्यान आकर्षित हुआ था। जब बातचीत से उनको मालूम हो गया कि गांधी-जी के साथ मेरा कैसा सम्बन्ध है, तो उनकी दिलचस्पी और भी बढ़ गई। उन्होंने मुझसे यह कह कर मुझे चकित कर दिया कि हिंदुस्तान में शाकाहारी होकर रहना बहुत कठिन है; क्योंकि यहाँ शाकाहारी के उपयुक्त खाद्य पदार्थ बहुत कम मिलते हैं। उन्होंने मुझे बतलाया कि इंग्लैंड और तमाम योरप में ऐसे बहुतेरे रेस्तराँ हैं, जिनमें शाकाहारी भोजन मिल सकता है। वहाँ सब्जी बहुतायत से मिल सकती है—दूध और दूध से बने हुए बहुत तरह के खाद्य-पदार्थ मिल सकते हैं।

रास्ते में मुझे ऐसा मालूम हुआ कि जब तक जहाज स्वेज नहर में गुजरता है, तब तक टामस-कुक-कम्पनी की ओर से ऐसा प्रबन्ध रहता है कि जो मुसाफिर चाहे, मोटर द्वारा जाकर 'कैरो' नगर और उससे थोड़ी दूरी पर स्फिक्स को देख आ सकता है। मैंने यह देख लेना अच्छा समझा। जहाज से उतर कर मोटर पर कैरो का अजा-यबघर देखने गए। यह बड़ा सुंदर संग्रह है। प्राचीन मिस्र के कितने बड़े नामी और प्रतापी बादशाहों के शव (ममी), जो पिरामिडों से निकले हैं, वहाँ सुरक्षित हैं। अब देखने में वे काले पड़ गए हैं, पर मनुष्य का चेहरा और हाथ-पैर तो ज्यों के त्यों हैं! वे जिस महीन कपड़े में लपेट कर गाड़े गए थे, वह कपड़ा भी अभी तक वैसे ही लिपटा हुआ है। यह कपड़ा बहुत ही बारीक हुआ करता था।

सुना जाता है कि यह भारतवर्ष से ही जाया करता था। सुना है कि इसी प्रकार की खुदाई से मोहन-जोदड़ो (सिन्ध) में जो गेहूँ निकला, बो देने पर उग गया। अजायबघर के संग्रह और विशेषकर प्रतापी राजाओं के शव देखकर मनुष्य के जीवन की अनित्यता साफ-साफ दीखने लगी। ऐसे दृश्य देखकर यह मालूम होने लगता है कि हम जो कुछ अपने बड़प्पन के मद में करते हैं, वह सब कितना तुच्छ और अस्थायी है। यद्यपि अजायबघर का सफर बहुत अच्छा रहा, तथापि मेरे दिल पर क्षणभंगुर जीवन की असारता का गहरा असर पड़ा। मैं वहाँ से उदास होकर ही निकला।

दोपहर का भोजन करके हम लोग कुछ दूर तक मोटर पर पिरामिड देखने गये। एक स्थान पर पहुँच कर मोटर छोड़ देनी पड़ी। ऊँटों पर सवार होकर पिरामिडों तक जाना पड़ा। मेरे लिए ऊँट की सवारी बिलकुल नई थी; क्योंकि मैं कभी हिन्दुस्तान में ऊँट पर न चढ़ा था। पिरामिडों को नजदीक जाकर देखा। ये बहुत ऊँचो चौखूँटी इमारतें हैं। हमारे देश में ईंटों का पजावा जैसे बनता है, वैसे ही ये पत्थरों के बहुत बड़े-बड़े चौरस किए हुए टुकड़ों से बने हैं। पजावे की तरह ही नीचे की चौड़ाई ज्यादा है, जो ऊपर की ओर कम होती गई है। ईंटों का पजावा तो छोटा होता है, ये बहुत बड़े और बहुत ऊँचे हैं। जिस परिमाण में ये ऊँचे और चौड़े हैं इसी परिमाण में इनमें लगी हुई पत्थर की ईंटें भी पजावे की ईंटों से लम्बाई-चौड़ाई और मोटाई में अधिक हैं। मेरा अनुमान है कि एक-एक ईंट शायद चार-पाँच हाथ लम्बी होगी। इसी के अनुसार उसकी चौड़ाई और मोटाई भी होगी।

न मालूम कितने दिनों में एक-एक ईंट काटकर इतनी बड़ी इमारत तैयार हुई होगी। इसमें कितने गरीबों ने अपनी ज़िन्दगी का कितना हिस्सा लगाया होगा? यह सब किसी एक राजा के नाम को उसके मरने के बाद भी कायम रखने के लिए किया गया था! नाम तो अब केवल पुस्तकों में रह गया है! ये इमारतें, जिनसे मनुष्य कोई लाभ नहीं उठा सकता, अपनी जगह पर आज भी हज़ारों बरसों के बाद ज्यों-की-त्यों खड़ी हैं। उनमें से अनेकों के अन्दर की खुदाई हुई है। उन्हीं में से निकले हुए सामान का संग्रह कैरो के

अजायबघर में है। स्फिक्स एक अजीब चीज़ है। मनुष्य का मुँह और शरीर जानवर का है। एक बहुत बड़ी मूर्ति उस रेगिस्तान में इसी शकल की बनी पड़ी है। यह सब देखकर हम लोग संध्या तक वापस आकर रेल पर सवार हुए।

पोर्ट सईद में प्रायः ११ बजे रात के करीब पहुँचे। वहाँ जहाज़ पहुँच गया था। भूमध्यसागर में पहुँचने पर कुछ सर्दी लगने लगी। लाल समुद्र तो बहुत गर्म था, अरब-सागर से भी अधिक। भूमध्यसागर में हवा भी ज़ोर से चलती थी, इसलिए जहाज़ कुछ हिलता था। मुझे एक दिन कुछ मतली-सी आयी, पर अधिक नहीं। हम लोग मार्सेल्स में सबेरे ही उतरे। वहाँ एक होटल में ठहर गए। वहाँ भी कुक-कम्पनी की कृपा से शहर के सभी देखने योग्य स्थानों को देख लिया। ऐसा अच्छा प्रबन्ध रखते हैं कि निश्चित समय के अन्दर सब कुछ आदमी देख लेता है। दिन-भर घूम-घामकर रात की गाड़ी से पेरिस को रवाना हो गया। पेरिस में गाड़ी बदलकर कैले पहुँचा। वहाँ जहाज़ पर चढ़कर संध्या होते-होते डोवर में उतर गया। डोवर से रेल पर चलकर रात के प्रायः ९ बजे लंदन पहुँच गया। वहाँ पर सब प्रबन्ध पहले से ही था। श्री महावीर प्रसाद बैरिस्टर पहले से ही वहाँ ठहरे थे। इसलिए वहाँ घर जैसा मालूम हुआ। फिर गोवर्धन के मेरे साथ आ जाने से खाना भी हिन्दुस्तानी मिलने लगा।

अभ्यास

१—विलायत जाते समय डा० राजेन्द्रप्रसादजी ने हिन्दुस्तानी पोशाक ही क्यों पसंद की?

२—डेक पर अँगरेज़ सज्जन से उनका किस तरह परिचय हुआ?

३—पिरामिड का वर्णन अपने शब्दों में कीजिए और यह बताइए कि उन्हें देखकर लेखक के मन में कौन-से भाव उठे और क्यों?

४—स्फिक्स क्या है?

१०—सीता-स्वयंवर

गोस्वामी तुलसीदास

[गोस्वामी तुलसीदासजी का जन्म-संवत् १५५४ और निर्वाण-संवत् १६८० है। आपके पिता का नाम आत्माराम दुबे और माता का नाम हुलसी था। सोरों (एटा, उत्तर प्रदेश) आपका जन्म-स्थान और काशी निर्वाण-स्थल है। आप अभुक्त मूल में पैदा हुए थे, अतः आपके पिता ने इन्हें अभागा समझ इनका परित्याग कर दिया था। इस प्रकार बचपन में ही आप आश्रयहीन हो गए और इधर-उधर भटकते रहे। संयोगवश महात्मा नरहरिदास से इनकी भेंट हो गई, जिन्होंने आपको आश्रय दिया और राम-भक्ति की दीक्षा भी दी।

तुलसीदास के जीवन को मोड़ देनेवाली उनकी प्रिय पत्नी रत्ना की तीखी फटकार थी। उसी के प्रभाव से इनका लौकिक प्रेम अलौकिक भक्ति में बदल गया।

आप राम के अनन्य भक्त और उच्चकोटि के कवि थे। आपकी कला का सबसे बड़ा गुण है मर्यादा-पालन। कवित्व और पांडित्य का सुन्दर समन्वय आपके काव्य में है।

रामचरित-मानस, बरवै रामायण, विनय-पत्रिका, कवितावली, दोहावली आदि आपके लोकप्रिय काव्य-ग्रंथ हैं। इनमें रामचरित-मानस आपकी श्रेष्ठ रचना है।]

भरे भुवन घोर कठोर रव, रविबाजि तजि मारग चले।
चिक्करहिं दिग्गज डोल महि, अहि कोल कूरम कलमले॥
सुर असुर मुनि कर कान दीन्हें, सकल बिकल बिचारहीं।
कोदंड खंडेउ राम तुलसी, जयति बचन उचारहीं॥

सोरठा : संकर चाप जहाज, सागर रघुवर-बाहुबल।
बूड़ सो सकल समाज, चढ़े जो प्रथमहिं मोहबस॥

चौपाई : प्रभु दोउ चाप खंड महि डारे।
देखि लोग सब भये सुखारे॥
कौसिक रूप पयोनिधि पावन।
प्रेमबारि अवगाह सुहावन॥

राम-रूप राकेस निहारी।
बढ़त बीचि पुलकावलि भारी॥
बाजे नभ गहगहे निसाना।
देववधू नाचहिं करि गाना॥
ब्रह्मादिक सुर सिद्ध मुनीसा।
प्रभुहिं प्रसंसहिं देहिं असीसा॥



बरषहिं सुमन रंग बहुमाला।
गावहिं किन्नर गीत रसाला॥
रही भुवन भरि जय-जय बानी।
धनुष-भंग धुनि जात न जानी॥
मुदित कहहिं जहँ-तहँ नर-नारी।
भंजेउ राम संभु-धनु भारी॥

दोहा : बन्दी मागध सूत गन, बिरद बदहिं मति धीर।
करहिं निछावरि लोग सब, हय गज धन मनि चीर॥

चौपाई : झाँझ मृदंग शंख सहनाई।
भेरि ढोल दुंदुभी बजाई॥
बाजहिं बहु बाजने सुहाए।
जहँ-तहँ युवतिन मंगल गाए॥
सखिन सहित हरषित अति रानी।
सूखत धान परा जनु पानी॥
जनक लहेउ सुख सोच बिहाई।
पैरत थके थाह जनु पाई॥
श्रीहत भये भूप धनु टूटे।
जैसे दिवस दीप छवि छूटे॥
सिय हिय सुख बरनिय केहि भाँती॥
जनु चातक पाये जल स्वाँती॥
रामहिं लषन बिलोकत कैसे।
ससिहिं चकोर किसोरक जैसे॥
सतानन्द तव आयसु दीन्हा।
सीता गमन राम पहँ कीन्हा॥

दोहा : संग सखी सुंदरि चतुर, गावहिं मंगल-चार।
गवनी बाल मराल गति, सुखमा अंग अपार॥

चौपाई : सखिन मध्य सिय सोहति कैसी।
छबिगन मध्य महाछबि जैसी॥
कर सरोज जयमाल उठाई।
विश्व विजय सोभा जनु छाई॥
तन सकोच मन परम उछाहू।
गूढ़ प्रेम लखि परै न काहू॥
जाइ समीप राम छबि देखी।
रहि जनु कुँवरि चित्र अवरेखी॥
चतुर सखी लखि कहा बुझाई।
पहिरावहु जयमाल सुहाई॥
सुनत युगल कर माल उठाई।
प्रेम बिबस पहिराइ न जाई॥

सोहत जनु युग जलज सनाला।
ससिहि सभीत देत जयमाला॥
गावहिं छबि अवलोकि सहेली।
सिय जयमाल राम-उर मेली॥

सोरठा : रघुवर उर जयमाल, देखि देव बरषहिं सुमन।
सकुचे सकल भुवाल, जनु बिलोकि रवि कुमुद गन॥

अभ्यास

१—सीता-स्वयम्बर का उक्त वर्णन अपने शब्दों में कीजिए।
२—अन्तिम चौपाई में प्रयुक्त अलकारों का विश्लेषण कीजिए।
३—दोहा और सोरठा के तुकान्तों में क्या अन्तर है?
४—निम्न शब्दों के खड़ी बोली के रूप बतलाइए :—
मारग, भंजेउ, करहिं, लहेउ, गावहिं, उछाहू।
५—'रामचरित मानस' किस भाषा का ग्रन्थ है?

११—जाह्नवी

श्री जैनेन्द्रकुमार

[श्री जैनेन्द्रकुमार का जन्म सन् १९०५ में कोड़ियागंज (अलीगढ़) में हुआ था। एफ० ए० तक आपने शिक्षा प्राप्त की और राष्ट्रीय आंदोलन में पढ़ाई छोड़कर जेल-यात्रा की। जेल में ही आपको लिखने की प्रेरणा हुई।

आपके कई उपन्यास और कहानी-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। आप दिल्ली में रहते हैं। हिन्दी के श्रेष्ठ कहानी-लेखकों में आपका अपना स्थान है। वातायन, एक रात, नीलम देश की राज-कन्या आदि आपके प्रसिद्ध कहानी-संग्रह हैं। परख, सुनीता, त्यागपत्र आदि आपके उपन्यास हैं।

प्रस्तुत कहानी 'जाह्नवी' में एक नवीन आदर्श प्रस्तुत किया गया है। जाह्नवी का आचरण असाधारण प्रतीत होने पर भी आदर्श से ओतप्रोत है।

आपकी कथा-शैली में एक विलक्षणता रहती है, जो पाठक को मुग्ध कर देती है।]

आज तीसरा रोज है। तीसरा नहीं, चौथा रोज है। वह इतवार की छुट्टी का दिन था। सबेरे उठा और कमरे से बाहर की ओर झाँका तो देखता हूँ, मुहल्ले के एक मकान की छत पर काँव-काँव करते हुए कौवों से घिरी एक लड़की खड़ी है और बुला रही है—"कौवो आओ, कौवो आओ।" कौवे बहुत काफी आ चुके हैं, पर और भी आते जाते हैं। वे छत की मुँडेर पर बैठ अधीरता से पंख हिला-हिलाकर बेहद शोर मचा रहे हैं। फिर भी उन कौवों की संख्या से लड़की का मन जैसे भरा नहीं है। बुला रही है—"कौवो आओ, कौवो आओ।"

देखते-देखते छत की मुँडेर कौवों से बिलकुल काली पड़ गई। उनमें से कुछ अब उड़-उड़कर लड़की को धोती से जा टकराने लगे। लड़की गाने लागी—"कागा चुन-चुन खाइयो...।"

साथ ही उसने अपने हाथ की रोटियों में से तोड़-तोड़कर नन्हें-नन्हें टुकड़े चारों ओर फेंकने शुरू किए। गाती रही—"कागा चुन-चुन खाइयो...।"

वह मग्न मालूम होती थी और अनायास ही उसकी देह थिरककर नाच-सी जाती थी। कौवे चुन-चुन खा रहे थे और वह गा रही थी—"कागा चुन-चुन खाइयो.....।"

आगे वह क्या गाती है, कौवों के कलरव और उनके पंखों की फड़फड़ाहट के मारे साफ सुनाई न दिया। कौवे लपक-लपक कर मानो टूटने से पहले उसके हाथ से टुकड़ा छीन ले रहे थे। वे लड़की के चारों ओर ऐसे छा रहे थे, मानो वे प्रेम से उसको ही खाने को उद्यत हों। और, लड़की कभी इधर, कभी उधर झूम कर घूमती हुई ऐसे मग्न भाव से गा रही थी कि जाने क्या मिल रहा हो।

रोटी खत्म होने लगी। कौवे भी यह समझ गए। जब एक टुकड़ा हाथ में रह गया, तब वह गाती हुई उस टुकड़े को हाथ में फहराती हुई जोर-जोर से दो-तीन चक्कर लगा उठी। फिर उसने वह टुकड़ा ऊपर आसमान की ओर फेंका और बहुत से कौवे एक ही साथ उड़कर उस पर झपटे। उस समय उन्हें देखती हुई लड़की हँसकर चीखती हुई-सी आवाज में गा उठी—"दो नैना मत खाइयो.....ओरे, पीउ मिलन की आस।"

रोटियाँ खत्म हो गईं। कौवे उड़ चले। लड़की एक-एक कर उनको उड़कर जाता हुआ देखने लगी। पल-भर में छत कोरी हो गई। अब अकेली उसके बीच में वह लड़की खड़ी थी। आस-पास बहुत से मकानों की बहुत-सी छतें, थीं, जिन पर कोई होगा, कोई न होगा। पर लड़की दूर अपने कौवों को उड़ते जाते हुए देखती रह गई या न जाने क्या देखती रह गई। गाना समाप्त हो गया था। धूप अभी फूटी ही थी। आसमान गहरा नीला था। उसके ओंठ खुले थे, दृष्टि स्थिर थी। जाने भूली-सी वह क्या देखती रह गई थी।

थोड़ी देर बाद उसने मानो जगकर अपने आस-पास के जगत पर देखा। इसी की राह में क्या मेरी ओर भी देखा? देखा भी हो; पर शायद मैं उसे नहीं दीखा था। उसके देखने में सचमुच कुछ दीखता था, यह मैं कह नहीं सकता। पर कुछ ही पल के अनन्तर वह मानो वर्त्तमान के प्रति, वास्तविकता के प्रति चेतन हुई और फिर बिना देर लगाए चटचट उतरती हुई नीचे अपने घर में चली गई।

मैं अपनी खिड़की में खड़ा-खड़ा चाहने लगा कि मैं भी देखूँ, कौवे कहाँ-कहाँ उड़ रहे हैं, और वे कितनी दूर चले गये हैं। पर मुश्किल से मुझे दो-एक ही कौवे दीखे। क्या वे कहीं दीखते भी हैं? वे निरर्थक भाव से यहाँ बैठे थे, या वहाँ उड़ रहे थे। वे मुझे मूर्ख और घिनौने मालूम हुए। उनकी काली देह और काली चोंच मन को बुरी लगी। मैंने सोचा कि नहीं, अपनी देह मैं कौवों से नहीं नुचवाऊँगा। छिः चुन-चुनकर इन्हीं के खाने के लिए क्या मेरी देह है? देव मन्दिर नहीं है मानव देह? और कौए—छिः!

जान पड़ता है, खड़े-खड़े मुझे काफी समय खिड़की पर ही हो गया; क्योंकि इस बार देखा कि ढेर-के-ढेर कपड़े 'कंधे पर लादे वही लड़की फिर उसी छत पर आ गई है। इस बार वह गाती नहीं है। पर वहाँ पड़ी एक खाट पर उन कपड़ों को पटक देती है। फिर उन कपड़ों में से एक-एक को चुनकर, झटककर वहीं छत पर सुखा देती है। छोटे-बड़े उन कपड़ों की गिनती काफी रही होगी। वे उठाए जाते रहे, झटके जाते रहे, फैलाए जाते रहे; पर उनका अन्त शीघ्र आता न दीखा। आखिर सब खत्म हो गए। लड़की ने सिर पर आये हुए धोती के पल्ले को पीछे किया। उसने एक अँगड़ाई ली, फिर सिर को जोर से हिलाकर अनबँधे अपने बालों को छिटका लिया और धीमे-धीमे वहीं डोलकर उन बालों पर हाथ फेरने लगी। कभी बालों की लट को सामने लाकर देखती, फिर उसको लापरवाही से पीछे फेंक देती। उसके बाल गहरे काले और लम्बे थे। मालूम नहीं, उसे अपने बालों पर सुख था या दुःख। कुछ देर वह उँगलियाँ फेर-फेरकर अपने बालों को छिटकाती रही, फिर चलते-चलते एकाएक उन सब बालों को इकट्ठा समेटकर झटपट जूड़ा-सा बाँध, पल्ला सिर पर खींच, वह नीचे उतर गई।

इसके बाद मैं खिड़की पर नहीं ठहरा। घर में छोटी साली आई हुई है। इसी शहर के दूसरे भाग में रहती है और ब्याह न करके कॉलेज में पढ़ती है। मैंने कहा—"सुनो, यहाँ आओ।"

उसने हँसकर पूछा—"यहाँ कहाँ?"

खिड़की के पास आकर मैंने पूछा—"क्यों जी, जाह्नवी का मकान जानती हो?"



लड़की बुला रही है—कौवो आओ !

"जाह्नवी ! क्यों, वह कहाँ है ?"

"मैं क्या जानता हूँ, कहाँ है ? पर देखो, वह घर तो नहीं है ?"

उसने कहा—"मैंने घर नहीं देखा। इधर उसने कालेज भी छोड़ दिया है।"

"चलो अच्छा है।"—मैंने कहा और उसे जैसे-तैसे टाला। क्योंकि वह पूछने-ताछने लगी थी कि क्या काम है, जाह्नवी को मैं क्या—कैसे—कितना जानता हूँ। सच यह था कि मैं उसे रत्ती-भर भी नहीं जानता। एक बार अपने ही घर में इसी साली की कृपा और आग्रह पर एक निगाह देखा था। बताया यह गया था कि यह जाह्नवी है, और खुशी से मैंने मान लिया कि वह जाह्नवी ही होगी। उसके बाद की सचाई यह है कि मुझे कुछ नहीं मालूम कि उस जाह्नवी का क्या बन गया और क्या नहीं बना। पर किसी सचाई को बहिनोई के मुँह से सुनकर स्वीकार कर ले तो सचाई क्या ? तिस पर ऐसी सचाई की नीरसता। पर ज्यों-त्यों मैंने उसे टाला।

बात-बात में मैंने कहना भी चाहा कि ऐसी ही तुम जाह्नवी को जानती हो, ऐसी ही तुम साथ पढ़ती थी। साफ कह दो, मालूम नहीं लेकिन मैंने कुछ कहा नहीं।

इसके बाद सोमवार हो गया, मंगलवार हो गया और आज बुध भी होकर चुका जा रहा है। चौथा रोज है। हर रोज सबेरे खिड़की के पार दीखता है कि कौवे काँव-काँव छीना-झपटी कर रहे हैं और वह लड़की उन्हें रोटी के टुकड़ों के मिस कह रही है—"कागा चुन-चुन खाइयो।"

मुझको नहीं मालूम कि कौवे जो कुछ उसका खायँगे, उसे कुछ भी इसका सोच है। कौवों को बुला रही है—"कौवो आओ, कौवो आओ।" साग्रह कह रही है—"कौवो खाओ, कौवो खाओ" वह खुश है कि कौए आ गये हैं और वे खा रहे हैं, कौवों को खिलाने का आग्रह-पूर्ण निमंत्रण देते हुए भी मानो उन्हें ताकीद यही करना चाहती है कि—"ये दो नैना मत खाइयो...।"

जो तन चुन-चुनकर खा लिया जायगा, उसको खा लेने में ऐ मेरे कौवो, खुशी से मेरी अनुमति है। वह खा-खू कर तुम सब

निबटा देना। लेकिन भाई! इन दो नैनों को छोड़ देना। वे निरर्थक नहीं हैं, निराश नहीं हैं। क्या तुम नहीं जानते कि उन नैनों में एक आस भरी है, जो पराए के बस है। वह नैना पीय की बाट में हैं। ऐ कौवो! वे मेरे नही हैं, मेरे तन के नही हैं। ये पीय की आस-भरे रखने के लिए हैं। सो उन्हें छोड़ देना।

आज सबेरे भी मैंने यह सब कुछ देखा। कौवों को रोटी खिलाकर वह उसी तरह नीचे चली गई। फिर छोटे-बड़े बहुत-से कपड़े धोकर लाई। उसी भाँति उन्हें छटककर सुखा दिया। वैसे ही बाल बिखराकर थोड़ी देर डोली, और सहसा ही उन्हें जूड़े में सँभालकर नीचे भाग गई।

जाह्नवी को घर में एक बार देखा था। पत्नी ने उसे खास तौर से देख लेने को कहा था। और उसके चले जाने पर पूछा—"क्यों, कैसी है?"

मैंने कहा था—"बहुत भली मालूम होती है। सुन्दर भी है। पर क्यों?"

"अपने बिरजू के लिए कैसी रहेगी?"

बिरजू दूर के रिश्ते में मेरा भतीजा होता है। इस साल एम० ए० में पहुँचा है।

मैंने कहा—"अरे ब्रजनन्दन! वह इसके सामने बच्चा है।"

पत्नी ने अचरज से कहा—"बच्चा है? बाईस वर्ष का तो हुआ।"

"बाईस छोड़ बयालीस का हो जाय। देखा नहीं, कैसे ठाट से रहता है। यह लड़की देखो, कैसी सफेद साड़ी पहनती है। बिरजू इसके लायक कहाँ है? यों भी कह सकती हो कि यह बेचारी लड़की बिरजू के ठाट के लायक नहीं है।"

बात मेरी कुछ सही, कुछ व्यंग थी। पत्नी ने उसे कान पर भी न लिया। कुछ दिनों बाद मुझे मालूम हुआ, पत्नीजी की कोशिशों से जाह्नवी के माँ-बाप (माँ के द्वारा बाप) से काफी आगे बढ़कर बात कर ली गई है। शादी के मौके पर क्या देना होगा, क्या लेना होगा, एक-एक कर सभी बातें पेशगी तय होती जा रही हैं।

इतने में सब किए-कराए पर पानी फिर गया। जब बात किनारे

तक आ गई थी, तभी हमारे ब्रजनन्दन के पास एक पत्र आ गया। उस पत्र के कारण सब चौपट हो गया। और इस रंग में भंग हो जाने पर हमारी पत्नीजी का मन पहले गिरकर चूर-चूर-सा होता जान पड़ा, पर वह फिर उसी पर खुश मालूम होने लगीं।

मैं तो मानो इन मामलों में अनावश्यक प्राणी हूँ ही। कानों-कान मुझे खबर तक न हुई। जब हुई तो इस तरह :—

पत्नी एक दिन सामने आ धमकी। बोली—"यह तुमने जाह्नवी के बारे में पहले से क्यों नहीं बतलाया ?"

मैंने कहा—"जाह्नवी के बारे में पहले क्या नहीं बतलाया, भाई ?"

"यही कि वह ऐसी है ?"

मैंने पूछा—"ऐसी कैसी ?"

उन्होंने कहा—"ज्यादा बनो मत, जैसे तुम्हें कुछ नहीं मालूम।"

मैंने कहा—"अरे, यह तो कोई हाईकोर्ट का जज भी नहीं कह सकता कि मुझे कुछ भी नहीं मालूम। लेकिन आखिर जाह्नवी के बारे में मुझे क्या मालूम है, यह तो मालूम हो !"

श्रीमतीजी ने अकृत्रिम आश्चर्य से कहा—"बिरजू के पास खत आया है, सो तुमने कुछ भी नहीं सुना ? आजकल की...बस कुछ न पूछो। यह तो चलो भला ही हुआ की मामला खुल गया नहीं तो...।"

क्या मामला, कहाँ कैसे खुला और भीतर से क्या कुछ रहस्य बाहर हो पड़ा, सो सब बिना जाने मैं क्या निवेदित करता। मैंने कहा—"कुछ बात साफ भी कहो।"

"असल बात जाननी है, तो जाकर पूछो उसकी महतारी से। भली समधिन बनने चली थी। वह तो मुझे पहले से ही दाल में काला मालूम होता था। पर देखो न, कैसी सीधी-भोली बातें करती थी। वहाँ तो देर क्या थी। सब हो ही चुका था। बस, लगन-मुहूर्त की बात थी। राम-राम ! भीतर पेट में कैसा कालिख रक्खे है, मुझे पता न था। चलो आखिर परमात्मा ने इज्जत बचा ली। वह लड़की कहीं घर में आ जाती, तो मेरा मुँह अब दिखाने लायक रहता ?"

मेरी पत्नी का दर्शनीय मुख क्यों—किस भाँति दिखाने लायक न रहता, सो उनकी बातों से समझ में न आया। उनकी बातों में रस कई भाँति का मिला। कुछ देर के बाद मैंने उनसे तथ्य पाने का प्रयत्न भी छोड़ दिया और चुपचाप पाप-पुण्य, धर्म-अधर्म की बातें सुनता रहा। पता लगाने पर मालूम हुआ कि ब्रजनन्दन के पास खुद लड़की यानी जाह्नवी का पत्र आया था। पत्र मैंने स्वयं देखा। उस पत्र को देखकर मेरे मन में कल्पना हुई कि अगर वह मेरी लड़की होती तो...? मुझे यह अपना सौभाग्य मालूम नहीं हुआ कि जाह्नवी मेरी लड़की नहीं है। उस पत्र की बात कई बार मेरे मन में उठी और घुमड़ती रह गई है। ऐसे समय चित्त का समाधान उड़ गया है, और मैं शून्य भाव से, हमें जो शून्य चारों ओर से ढके हुए है, उसकी ओर देखता रह गया।

पत्र बड़ा नहीं था। सीधे-साधे ढङ्ग से उसमें यह लिखा था कि आप जब विवाह के लिए यहाँ पहुँचेंगे, तो मुझे प्रस्तुत भी पायेंगे। लेकिन मेरे चित्त की हालत इस समय ठीक नहीं है। और विवाह जैसे धार्मिक अनुष्ठान की पात्रता मुझमें नहीं है। एक अनुगता आप-को विवाह द्वारा मिल जायगी, लेकिन विवाह द्वारा वैसी सेविका नहीं मिलनी चाहिए, धर्मपत्नी चाहिए। वह जीवन-सङ्गिनी भी हो। वह मैं हूँ या हो सकती हूँ, इसमें मुझे बहुत सन्देह है। फिर भी अगर आप चाहें, आपके माता-पिता चाहें तो प्रस्तुत मैं अवश्य हूँ। विवाह में आप मुझे लेंगे और स्वीकार करेंगे, तो मैं अपने को रोकूँगी नहीं। अपने को दे ही दूँगी और आपके चरणों की धूलि माथे से लगाऊँगी, आपकी कृपा मानूँगी, कृतज्ञ होऊँगी। पर निवेदन है कि यदि आप मुझ पर से अपनी माँग उठा लेंगे, मुझे छोड़ देंगे, तो भी मैं कृतज्ञ होऊँगी। निर्णय आपके हाथ है। जो चाहें करें।

मुझे ब्रजनन्दन पर आश्चर्य आकर भी आश्चर्य नहीं होता। उसने दृढ़ता के साथ कह दिया कि मैं यह विवाह नहीं करूँगा। लेकिन उसने मुझसे अकेले में यह भी कहा कि चाचाजी, मैं विवाह करूँगा ही नहीं। करूँगा तो उसी से करूँगा। उस पत्र को वह अपने से अलहदा नहीं करता है। और, मैं देखता हूँ कि उस ब्रज-नन्दन का ठाट-बाट आप-ही-आप कम होता जा रहा है। सादा

रहने लगा है और अपने प्रति सगर्व बिलकुल भी नहीं दीखता है। पहले विजेता बनना चाहता था और ढोंग की बातें करता था, अब विनयावनत दीखता है और आवश्यकता से अधिक बात नहीं करता। एक बार प्रदर्शनी में मिल गया। मैं तो देखकर हैरत में रह गया। ब्रजनन्दन एकाएक पहचाना भी न जाता था। मैंने कहा—"ब्रजनन्दन, कहो क्या हाल है ?"

उसने प्रणाम करके कहा—"अच्छा है।"

वह मेरे घर पर भी आया। पत्नी ने उसे बहुत प्रेम किया। और बहुत-बहुत बधाइयाँ दीं कि ऐसी लड़की से शादी होने से चलो भगवान् ने समय पर रक्षा कर दी। जाह्नवी नाम की लड़की की एक-एक बात बिरजू की चाची को मालूम हो गई है। वे बातें—"ओह ! कुछ न पूछो बिरजू भैया ! मुँह से भगवान् किसी की बुराई न करावे लेकिन..."

फिर कहा—"भई, अब बहू के बिना काम कब तक हम चलावें, तू ही बता। क्यों रे, अपनी चाची को बुढ़ापे में भी तू आराम नहीं देगा ? सुनता है कि नहीं ?"

ब्रजनन्दन चुपचाप सुनता रहा।

पत्नी ने कहा—"और यह तुझे हो क्या गया है ? अपने चाचा की बात तुझे भी लग गई है क्या ? न ढङ्ग के कपड़े, न दीन की बातें ! उन्हें तो अच्छे कपड़े-लत्ते सोभते ही नहीं हैं। तू क्यों ऐसा रहने लगा है, रे ?"

ब्रजनन्दन ने कहा—"कुछ नहीं चाची ! और कपड़े घर रक्खे हैं।"

अकेले पाकर मैंने भी उससे कहा—"ब्रजनन्दन, बात तो सही है। अब शादी करके काम में लगना चाहिए और घर बसाना चाहिए। ठीक है कि नहीं ?"

ब्रजनन्दन ने मुझे देखते हुए बड़े-बूढ़े की तरह कहा—"अभी तो बहुत उमर पड़ी है, चाचाजी।"

मैंने उस बात को ज्यादा नहीं बढ़ाया।

अब खिड़की के पार इतवार को, सोमवार को, मङ्गलवार को और आज बुधवार को भी सबेरे-ही-सबेरे छत पर नित-नित रोटी के

मिस कौवों को पुकारकर बुलाने, खिलानेवाली यह जो लड़की देखता रहा हूँ, क्या वह जाह्नवी है ? जाह्नवी को मैंने एक ही बार देखा है, इसलिए मन को कुछ निश्चय नहीं होता है। कद इतना ही था; लावण्य शायद उस जाह्नवी में कुछ अधिक रहा होगा। पर यह वह नहीं है, जाह्नवी ही नहीं है, ऐसा दिलासा मैं मन को तनिक भी नहीं दे पाता हूँ। सबेरे-ही-सबेरे इतने कौवे बुला लेती है कि खुद दीखती ही नहीं। काले-काले वे ही दीखते हैं। और वे उसके चारों ओर ऐसी छीना-झपटी-सी करते हुए उड़ते रहते हैं, मानो बड़े स्वाद से, बड़े प्रेम से चींथ-चींथकर उसे खाने के लिए आपस में बदाबदी मचा रहे हों। पर उनसे घिरी वह कहती है—"आओ कौवो, आओ !" जब वे आ जाते हैं, तो गाती है—"कागा, चुन-चुन खाइयो।"

और काग जब इकट्ठे-के-इकट्ठे काँव-काँव करते हुए चुन-चुनकर खाने लगते हैं और फिर भी खाऊँ-खाऊँ करते उससे भी ज्यादा माँगने लगते हैं, तब वह चीख मचाकर चिल्लाती है—

"ये दो नैना मत खाइयो,
मत खाइयो, ओरे,
पीयु मिलन की आस।"

अभ्यास

१—जाह्नवी कौवों को बुलाकर यह गाना क्यों गाती थी—

'ये दो नैना मत खाइयो,
पीउ मिलन की आस।

२—जाह्नवी ने ब्रजनन्दन को जो पत्र लिखा था, उसका क्या कारण था ?

३—ब्रजनन्दन का ठाट-बाट आप-ही-आप कम क्यों होने लगा था ?

४—निम्नलिखित मुहाविरों का अर्थ समझाइए और वाक्यों में प्रयोग कीजिए:—

मन गिरना, रंग में भंग होना, दाल में काला, बात लगना, घर बसाना।

१२—गणेशोत्सव

श्री वसन्तराव नेने

[श्री वसन्तराव नेने मराठी-भाषी होते हुए भी हिन्दी में जब-तब अध्ययनपूर्ण निबन्ध लिखते रहते हैं। प्रस्तुत निबन्ध में आपने सरल भाषा और रोचक शैली में यह बतलाया है कि भारत के उद्धार और स्वराज्य की प्रतिष्ठा के लिए समर्थ रामदास ने जिस प्रकार मारुति-मन्दिरों की स्थापना कर उन्हें गुप्त-सैनिक-गढ़ों का रूप दिया था, उसी प्रकार लोकमान्य तिलक ने राजनीतिक चेतना जगाने के लिए गणेशोत्सव की कल्पना की थी। गणेशोत्सव का हमारे सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन से निकटवर्ती संबंध है।]

परतंत्रता की बेड़ियों में जकड़े हुए राष्ट्र को बन्धन से मुक्त कर उसे स्वाधीनता प्राप्त कराने में राजनीतिज्ञों, एवं सन्त-महात्माओं ने अत्यधिक योग दिया है। परन्तु जनता को जागृत करने में राष्ट्रीय उत्सवों का स्थान कम महत्वपूर्ण नहीं है। इस प्रकार के उत्सवों का भारत में ही नहीं, वरन् पाश्चात्य देशों के इतिहास में भी वर्णन मिलता है। प्राचीन यूनानी जनता को संगठित कर उनके शौर्य, बल एवं तेज को प्रज्ज्वलित करने में ओलिंपियन राष्ट्रीय महोत्सव का वही स्थान था, जो भारत में वैदिक काल में महासभा और आधुनिक बीसवीं शताब्दी में गणेशोत्सव तथा शिवाजी उत्सवों का रहा है।

यूनान के उपर्युक्त महोत्सव में राजनीतिज्ञ, इतिहासकार, दार्शनिक और सन्त-महात्माओं से लेकर सेना के प्रमुख अधिकारी तक भाग लेते थे। सामाजिक एवं धार्मिक झगड़ों के कारण जब यूनान राष्ट्र छोटे-छोटे समुदायों में विभक्त होकर एक-दूसरे का अस्तित्व नष्ट करने पर तुला हुआ था, तब इसी राष्ट्रीय महोत्सव ने देशवासियों को संगठित कर जनता में राष्ट्रीयता की भावना जागृत की। इस महोत्सव से तैयार लोकमत का राष्ट्र पर इतना व्यापक प्रभाव पड़ा कि मासेडानिया के कुख्यात षडयंत्रकारी राजा फिलिप

को भी इस उत्सव में शामिल होने के लिए प्रयत्न करना पड़ा था। इसी प्रकार "पीथियन" और "नीमियन" उत्सव भी मनाये जाते थे।

रोमन जातियों के इतिहास में भी सांवत्सरिक राष्ट्रीय महोत्सवों का वर्णन आता है। इस प्रकार के सभी उत्सवों का उद्गम धर्म में श्रद्धा ही थी। रोमन लोगों का "सर्कस" भी एक महोत्सव समझा जाता था। क्रूसेड नामक धर्मयुद्धों का आरंभ होने से पूर्व "ईसा जयंती" भी वीर्यपोषक उत्सव के रूप में मनाई जाती थी। आयरिश लोगों में राष्ट्रीय भावना जागृत करने के लिए "तारा" की यात्रा बड़ी उपयोगी होती थी। कालगति के प्रवाह में ईसाई राष्ट्रों में भी धार्मिक श्रद्धा का धीरे-धीरे ह्रास हो रहा है। आज इन महोत्सवों में पहले जैसी श्रद्धा नहीं रही। धर्म और देश के नाम पर मनाए जानेवाले इन उत्सवों का स्थान राजनीतिक और औद्योगिक आन्दोलनों ने ले लिया है।

इन महोत्सवों का हेतु धार्मिक हो अथवा किसी विशिष्ट राजनीतिक दल का मत-प्रसार करना हो; परन्तु इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि मनोरंजन के साथ-साथ राष्ट्रीयता की भावना एवं ज्ञानवर्धन करने का यह सबसे उत्कृष्ट मार्ग है।

वेदकाल में भी "महासभा" जैसे राष्ट्रीय महोत्सवों का उल्लेख मिलता है। ऐसे अवसरों पर एकत्र होनेवाले ऋषि-मुनियों में नैतिक, धार्मिक तथा तत्कालीन सामाजिक समस्याओं पर जोरदार चर्चा होती थी। गौतम बुद्ध भी ऐसे ही अवसरों पर अपने धर्म की दीक्षा देते थे। बुद्ध के निर्वाण के पश्चात् अशोक ने भी बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए इन्हीं मार्गों का अनुसरण किया। शेक्सपियर को भी कई अर्थों में पीछे छोड़नेवाला भवभूति "कालप्रियनाथ" के उत्सवों में सम्मिलित होकर विद्वानों के सम्मुख अपना नाटक प्रस्तुत करने में गौरव समझता था। एकनाथ, तुकाराम, चैतन्य आदि संत-महात्माओं ने ऐसे ही उत्सवों में अपने विचार जनता के सम्मुख रखे। वस्तुतः जनमत को बनाने में उस समय उत्सवों का वही स्थान था, जो आधुनिक युग में अखबारों को प्राप्त है।

गणेशोत्सव का इतिहास

गणपति बुद्धि के अधिष्ठाता के रूप में आर्यों द्वारा पूजित देवता हैं।

गणपति, गणेश अथवा गजानन हिन्दुओं के आदि देवता हैं। हिन्दुओं के यह देवता वैदिक काल से ही परिचित, प्रचलित तथा प्रसिद्ध हैं।

पुराणों में इनके संबंध में अनेक गाथाएँ प्रचलित हैं। गणेश भगवान् शंकर और पार्वती के पुत्र हैं। एक बार जब गणेश द्वार-रक्षक का कार्य कर रहे थे, तब उन्होंने अपने पिता शंकर को भी भीतर प्रवेश करने से रोक दिया। इस पर भगवान् शंकर इतने क्रुद्ध हुए कि उन्होंने गणेश का सिर धड़ से अलग कर दिया। इस पर पार्वती ने भगवान् शंकर से गणेश को पुनः जीवित करने की प्रार्थना की। तब शिवजी ने हाथी के मस्तक से उनका सिर जोड़ दिया और तभी से ये 'गजानन' कहलाए। इसी प्रकार उनका 'एकदन्त' नाम पड़ने के बारे में भी अनेक कथाएँ प्रचलित हैं।

सिन्दुरा नामक असुर ने उनको एक बार नर्मदा में फेंक दिया, तभी से नर्मदा का जल लाल हुआ। इसी लिए नर्मदा-गणेश नर्मदा नदी में प्राप्त होते हैं, ऐसी भी कथा सुनी जाती है। गणेश के बुद्धि विनायक आदि अनेक अवतार माने गए हैं और उन अवतारों के भिन्न-भिन्न जन्म-दिवस मनाए जाते हैं। परन्तु भाद्र पद शुक्ला चतुर्थी का दिन श्री गणेश-जन्म-दिवस के रूप में सर्वत्र मनाया जाता है।

कोई व्यक्ति किसी भी देवता का उपासक क्यों न हो, सबसे प्रथम श्री गणेशजी की पूजा और आराधना करता है, उसके पश्चात् अपने उपास्य देवता की पूजा करता है।

गणेश चतुर्थी के दिन जिस मूर्ति की पूजा होती है, उसका नाम सिद्धि-विनायक है।

कोंकण में प्रचलित लोकगीत के अनुसार बहुतों की यही कल्पना है कि श्री गणेशजी का वाहन मूषक है। इस प्रकार की कल्पना का आधार क्या है, यह एक जटिल प्रश्न है। गणपति-

अथर्वशीर्ष में 'मूषकध्वजम्' ऐसा उल्लेख है। इससे यह स्पष्ट है कि मूषक गणेशजी का वाहन नहीं, परन्तु उनके ध्वज पर मूषक का चिन्ह था।

श्री गणेश के प्राचीन मंदिर तथा उनकी प्रतिमाएँ भारत में ही नहीं वरन् भारत के बाहर ब्रह्मदेश, हिन्दचीन, स्याम, बोर्नियो, मलाया, श्रीलंका, अफगानिस्तान, तिब्बत, चीन, मैक्सीको आदि देशों में अभी भी देखने को मिलती हैं। मूर्ति-विज्ञान-शास्त्र में लिखे प्राचीन ग्रंथों से इस बात की पुष्टि होती है कि हमारे प्राचीन धर्म एवं उपासना का विस्तार भारत के बाहर दूर-दूर देशों में था।

गणेश के उपासक 'गाणपत्य' कहे जाते हैं। दक्षिण भारत विशेषतः महाराष्ट्र में इनके बहुसंख्यक उपासक हैं। पेशवा भी गणपति के उपासक थे और यही इनके इष्ट देवता थे। इसलिए उनके समय में उनकी राजधानी पूना में बड़े ही समारोह के साथ छः दिन तक गणेशोत्सव मनाया जाता था।

काल-प्रवाह में पेशवाओं का लोप हो गया; परन्तु आज भी उनके वंशज तथा महाराष्ट्र के लोग इस उत्सव को मनाते हैं।

राजनीतिक स्वरूप

जिन संत महात्माओं के हृदय में, जिन राष्ट्र-पुरुषों के मानस में देश की परतंत्रता पीड़ा बनकर करवट लिया करती है, वे उसके उद्धार के लिए सतत चिन्तित रहते और अनेक उपायों की कल्पना किया करते हैं। समर्थ गुरु रामदास ने जिस प्रकार समस्त देश में मारुति-मंदिरों की स्थापना कर उन्हें शिवाजी की सहायता के लिए गुप्त सैनिक गढ़ों का रूप प्रदान किया था, उसी प्रकार भारत में राजनीतिक चेतना जगाने के लिए लोकमान्य तिलक ने गणेशोत्सव की परिकल्पना की। गणेशोत्सव केवल एक धार्मिक कार्य ही नहीं, अपितु हमारे सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन से इसका अति निकट का संबंध है।

विदेशी हुकूमत के दमन के कारण जनता एकदम कुचल गई थी। अँगरेजी सरकार का विरोध करने में सभी भय खाते थे। विदेशी नौकरशाही सरकार के सम्मुख स्वदेश और स्वशासन की

बात करना राजद्रोह समझा जाता था। राजनीतिक स्वतंत्रता के साथ-साथ हमारा सामाजिक, धार्मिक एवं नैतिक जीवन भी नष्ट-भ्रष्ट हो गया था।

चेतना, राष्ट्रीय जागरण तथा संस्कार-प्रचार के उद्देश्य से लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक ने सन् १८९४ में सार्वजनिक गणेशोत्सव की स्थापना पूना में की। इस उत्सव में दस दिन तक भजन-गायन, भाषण इत्यादि होते थे, जो मनोरंजन के साथ लोगों में एकता की भावना भरते थे। गणपति-विसर्जन के दिन तिलक स्वयं भी जुलूस में शामिल होते थे।

धीरे-धीरे क्वेटा से कोचीन तथा कलकत्ता से कराची तक इसका प्रसार हुआ और तिलक के समय में ही देश की राजनीतिक जागृति के लिए, गणेशोत्सव एक सफल साधन के रूप में उपयोगी सिद्ध हुआ। केवल स्वदेशी वस्तुओं का ही उपयोग, विलायती वस्तुओं का बहिष्कार, राष्ट्रीय शिक्षा, इन तीन उपदेशों का भारत के कोने-कोने में प्रचार किया जाने लगा। धीरे-धीरे लोगों में अपने अधिकारों के प्रति जागृति तथा उन्हें प्राप्त करने के लिए मर मिटने का अदम्य साहस दिखाई देने लगा।

समय-परिवर्तन के साथ हिन्दू धर्म-प्रचार, संगठन आदि विषयों की चर्चा गौण और स्वदेशी आन्दोलन, मद्य-निषेध तथा सन् १८९६ के अकाल-पीड़ितों के लिए "पैसा फंड" आदि विषयों की चर्चा मुख्यतः होने लगी। सन् १९०५ से १९१० तक ऐसे उत्सवों ने बृहत् रूप धारण किया। शहरों के अलावा महाराष्ट्र के दूर-दूर के गाँवों में भी इसका प्रचार हुआ।

स्वदेशी आन्दोलन, विदेशी बहिष्कार के साथ-साथ "स्वराज्य" की आवाज बुलन्द हुई और तिलक के नेतृत्व में गणेशोत्सव धार्मिक कार्य तक ही सीमित न होकर देशभक्ति के प्रचार के लिए राष्ट्रीय उत्सव में परिणत हुआ।

जब तक उत्सव का नेतृत्व लोकमान्य तिलक के हाथ में था, उसमें सरकारी अधिकारियों का हस्तक्षेप अधिक न था, परन्तु सन् १९०८ में तिलक को ७ साल के लिए देश-निकाले का दंड दिया गया और मांडले में नजरबन्द रखा गया। सरकार की धारणा थी कि

यह उत्सव अपने आप ही शान्त हो जायगा; लेकिन इसका परिणाम उलटा ही हुआ। सन् १९०९ और १० में उत्सव का जोर विशेष रूप से बढ़ा। तिलक को सात साल का कठोर कारावास का दंड देने से जनता में असंतोष की व्यापक लहर उठी। इधर सरकारी दमन-चक्र की गति पहले की अपेक्षा तेज हुई। मेले में कार्य करने वाले प्रत्येक व्यक्ति पर कड़ा नियंत्रण रहने लगा। "लोकमान्य तिलक की जय" कहने पर जनता को जेल में भरा जाने लगा, और उन पर झूठे मुकदमे चलाए गये; परन्तु इतना कठिन नियंत्रण होने पर भी उत्सव में किसी प्रकार की शिथिलता नहीं आई।

'स्वराज्य हमारा जन्म-सिद्ध अधिकार है'

सन् १९१६ में "होमरूल लीग" की स्थापना होने के बाद लोकमान्य तिलक का दौरा शुरू हुआ। उसी के साथ उत्सव की रूपरेखा भी बदली। "स्वराज्य हमारा जन्म-सिद्ध अधिकार है" इस घोषणा से राजनीतिक आन्दोलन में नवीन जागृति हुई। इसी समय कांग्रेस-लीग-समझौता होने के कारण मुसलमान भी इस आन्दोलन में भाग लेने लगे। इस प्रकार औद्योगिक, सामाजिक तथा राजनीतिक सुधार के साथ-साथ जन-संगठन तथा जनजागृति कर नौकरशाही का विरोध करने की लोकमान्य तिलक की इच्छा सन् १९२० तक सफल हुई।

जुलाई सन् १९२० में लोकमान्य तिलक की मृत्यु हुई और अगस्त से असहयोग आन्दोलन का श्रीगणेश हुआ। उसी के उत्सव की भी रूपरेखा समयानुसार बदलने लगी।

अब सदियों की पराधीनता के बाद हमने अपना जन्म-सिद्ध अधिकार प्राप्त कर लिया है। उस अधिकार की समुचित रक्षा एवं उपयोग कर देश को समृद्धिशाली बनाना ही हम सब का परम कर्तव्य है।

अभ्यास

१—इस निबन्ध के आधार पर सिद्ध कीजिए कि प्राचीन काल में जनमत को

जागृत करने के लिए धार्मिक उत्सवों का वही स्थान था, जो आधुनिक युग में अखबारों का है।

२—लोकमान्य तिलक ने गणेशोत्सव की परिकल्पना किस उद्देश्य से की थी और वह सफल हुई अथवा असफल ?

३—गणेशोत्सव धार्मिक ही नहीं, प्रत्युत राष्ट्रीय उत्सव में किस प्रकार परिणत हुआ ?

४—समास-विग्रह कीजिए और उसका प्रकार बतलाइए :—
महोत्सव, तत्कालीन, गजानन, बहुसंख्यक, गंगाधर।

१३—साकेत नगरी

डा० मैथिलीशरण गुप्त

[राष्ट्रकवि डॉ० मैथिलीशरण गुप्त का जन्म संवत् १९४३ में चिरगाँव (झाँसी, उत्तरप्रदेश) में हुआ। आपकी दर्जनों कविता-पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। 'साकेत' आपका महाकाव्य है।

शब्दों का प्रांजल प्रयोग तथा विविध छन्दों की योजना खड़ी बोली के पद्य को आपकी सबसे बड़ी देन है। आधुनिक कवियों में आप सर्वप्रिय कवि हैं। देश-प्रेम, आदर्श चरित्र-चित्रण एवं भारत के अतीत गौरव की छटा आपके काव्य में सर्वत्र ओतप्रोत है।

साकेत, जय भारत, जयद्रथ वध, पंचवटी, भारत-भारती आदि आपके अत्यन्त लोकप्रिय काव्य हैं।

आपकी प्रतिभा बहुमुखी है। आप गीतकार, प्रबंधकार, नाटककार तथा सिद्धहस्त अनुवादक हैं।]

देख लो साकेत नगरी है यही,
स्वर्ग से मिलने गगन में जा रही।
केतु-पट अंचल सदृश हैं उड़ रहे,
कनक-कलशों पर अमर दृग जुड़ रहे ॥१॥
सोहती हैं विविध शालाएँ बड़ी
छत उठाए भित्तियाँ चित्रित खड़ी।
गोहियों के चारु-चरितों की लड़ी
छोड़ती है छाप, जो उन पर पड़ी ॥२॥
स्वच्छ, सुन्दर और विस्तृत घर बने,
इन्द्रधनुषाकार तोरण हैं तने।
देव-दम्पति यत्न देख सराहते
उतर कर विश्राम करना चाहते ॥३॥
फूल-फलकर, फैलकर जो हैं बढ़ीं,
दीर्घ छज्जों पर विविध बेलें चढ़ीं।

पौर कन्याएँ प्रसून स्तूप कर
वृष्टि करती हैं यहीं से भूप पर ॥४॥



श्री मैथिली शरण गुप्त

फूल-पत्ते हैं गवाक्षों में कढ़े,
प्रकृति से ही वे गए मानो गढ़े।
दामिनी भीतर दमकती है कभी
चन्द्र की माला चमकती है कभी ॥५॥

सर्वदा स्वच्छन्द छज्जों के तले
प्रेम के आदर्श पारावत पले।
केश-रचना के सहायक हैं शिखी,
चित्र में मानों अयोध्या है लिखी ॥६॥
स्वर्ग की तुलना उचित ही है यहाँ
किन्तु सुर-सरिता कहाँ, सरयू कहाँ ?
वह मरों को मात्र पार उतारती
यह यहीं से जीवितों को तारती ॥७॥
एक नस के विविध सुमनों से खिले
पौरजन रहते परस्पर हैं मिले।
स्वस्थ, शिक्षित, शिष्ट, उद्योगी सभी,
बाह्य भोगी आन्तरिक योगी सभी ॥८॥
व्याधि की बाधा नहीं तन के लिए,
आधि की शंका नहीं मन के लिए।
चोर की चिन्ता नहीं धन के लिए,
सर्व सुख है प्राप्त जीवन के लिए ॥९॥
एक भी आँगन नहीं ऐसा यहाँ
शिशु न करते हों कलित क्रीड़ा जहाँ।
कौन है ऐसा अभागा गृह कहो,
साथ जिसके अश्व-गोशाला न हो ॥१०॥

अभ्यास

१—अयोध्या का जो चित्र इस कविता में चित्रित किया गया है, उसे अपने शब्दों में लिखिए।

२—उक्त छन्दों में से ऐसे छन्द बतलाइए, जिनके आधार पर 'राम-राज्य' का चित्र सजीव होता है।

३—सातवें छन्द में कवि ने जिन विशेष बातों की ओर संकेत किया है, उन्हें स्पष्ट कीजिए और अपना मतामत प्रकट कीजिए।

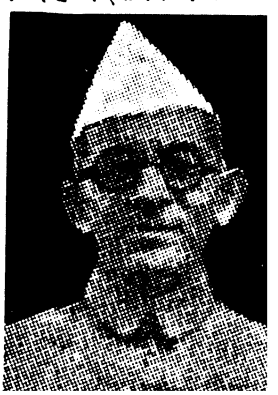
४—सविग्रह समास लिखिए :—
इन्द्रधनुषाकार, सुर-सरिता, देव-दंपति, केतुपट, बाह्यभोगी।

५—पहले और तीसरे छन्द में प्रयुक्त अलंकारों का विश्लेषण कीजिए।

१४—एक अनुभव

श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी

[गुजराती के लब्धप्रतिष्ठ कथाकार, कानून के महापण्डित और प्रख्यात राजनीतिज्ञ श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी का जन्म २९ दिसंबर १८८७ को भड़ोच में एक भार्गव ब्राह्मण परिवार में हुआ था। आप यशस्वी पत्रकार भी हैं। गांधीजी के अँगरेजी पत्र 'यंग इंडिया' के आप सहायक सम्पादक और गुजराती के कई प्रसिद्ध पत्रों के सम्पादक रह चुके हैं।



बारदोली सत्याग्रह और असहयोग आन्दोलन में भाग लेकर आप कई बार जेल जा चुके हैं।

केन्द्रीय मंत्रिमण्डल में आप खाद्य मंत्री और बंबई के प्रथम कांग्रेसी मंत्रिमण्डल के गृहमंत्री रह चुके हैं। आजकल आप उत्तरप्रदेश के राज्यपाल हैं।

पृथ्वी-वल्लभ, पाटण की प्रभुता, जय सोमनाथ आदि आपके सुप्रसिद्ध उपन्यास हैं, जिनके अनुवाद हिन्दी में भी हो चुके हैं। अँगरेजी में भी आपकी कई पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं।]

रघुनंदन मेरा अभिन्न मित्र था। बचपन से हम साथ-साथ पढ़े थे। इतना ही नहीं, बल्कि भविष्य की आशाओं के महा-प्रासादों में भी, जिनका निर्माण हम किया करते थे, साथ-साथ ही रहते थे। कालेज में पढ़ते हुए, अनुभवहीन युवकों की स्वच्छन्द कल्पना से हम अनेक प्रकार के विचार करते। विश्वव्यापी आन्दोलन के अग्रगण्य नेता होने की शक्ति हममें है, यह भी हम मानते; प्रलय-काल की समुद्र-तरंग-से ल्यूथर की आत्मा और बुद्धि का उत्साह भी हममें है, यह भी हम सोचते; और इन सब शक्तियों को दुनिया की उन्नति के लिए उपयोग में लाने का दृढ़ निश्चय करते। इतने पर भी रघु-

नन्दन में मुझसे अधिक टीमटाम थी। उसकी जिह्वा अधिक सबल थी, इसलिए किसी उच्च श्रेणी पर उसके पहुँचने का मैं कभी विचार भी न करता था। घड़ी में ऐसा लगता कि वह धार्मिक सुधारक होकर सत्य के लिए ईसा मसीह की करुण मृत्यु की महत्ता प्राप्त करेगा; घड़ी में लगता, देशभक्ति में अपने को होमकर कोई नर-रत्न होगा।

फिर यह बम्बई आया। पैसे की कुछ कमी होने के कारण मुझे एक अँगरेजी स्कूल में चालीस रुपए के मास्टर की जिन्दगी में ही अपने मनोराज्यों को सीमित कर देना पड़ा। रघुनन्दन ने अध्ययन जारी रक्खा। हमारा पत्र-व्यवहार निरंतर चला करता, और यह सोचकर ही मैं संतोष कर लेता कि न सही मैं, पर मेरा मित्र अवश्य अपने शैशव के स्वप्नों को मूर्तिमान करेगा।

लगभग साल भर बाद हम मिले। मुझे जरा खेद हुआ। मेरी धारणा थी कि रघुनन्दन के निर्मल हृदय को स्वच्छता पर कभी जरा भी धब्बा न लगेगा। पर उसके रहन-सहन पर मुझे आश्चर्य हुआ। अन्तर के उल्लास की अपेक्षा मुझे उसमें कृत्रिमता अधिक दिखाई दी। मुझे लगा कि स्नेह और उत्साह के निर्मल निर्झर में सांसारिकता की कीचड़ भर गई है। मैंने ऐसे विचार मन में से निकाल डाले। कदाचित् मेरे निरीक्षण में भूल हुई हो। मैंने अपने प्राचीन स्वप्नों की बात छेड़ी। कुछ-कुछ उसमें उसने रस भी लिया; पर मुझे लगा कि अधिक रस तो वह बम्बई के मनोविनोद, और वहाँ के फैशन में ही लेता होगा।

हमारी महान् आशाओं की अटारियों में मानो उसने कुछ परिवर्त्तन कर दिया हो। फिर भी उसमें मेरी श्रद्धा अडिग रही। भौतिक सुखों को ही सब कुछ माननेवाली पाश्चात्य संस्कृति के अलबेले बाजार बम्बई के वातावरण में इस प्रकार का मानसिक परिवर्त्तन हो जाना स्वाभाविक था। स्नेह के कारण मैंने उसमें दिखाई देनेवाले अधःपतन की ओर से आँख मोड़ ली।

रघुनन्दन का एक सुशील बालिका से कुछ प्रेम हो गया था। वह उसके गुणों के विषय में हमेशा मुझे पत्र लिखता और भविष्य में उसके साथ ही उसका विवाह होगा, यह मैंने सोच लिया था।

पर मुझे बतलाया गया था कि उस लड़की के बाप की स्थिति अच्छी न होने के कारण विवाह की बात टाल दी गई है।

दो-एक महीने बाद मेरे पास पत्र आया कि रघुनन्दन ने एक धनिक की लड़की के साथ विवाह कर लिया है। मुझे विश्वास नहीं हुआ। मैंने रघुनन्दन को लिखा, पर उसने कोई जवाब नहीं दिया। रघुनन्दन जैसा उच्च भावनावाला मनुष्य एक स्नेह-लग्न द्वारा अपनी बनाई हुई प्रियतमा को छोड़, दूसरी से विवाह कर ले, इस पर मुझे विश्वास नहीं हुआ। इसी बीच मेरा बम्बई जाना हुआ। पहले तो पत्र लिखते ही रघुनन्दन स्टेशन पर दौड़ता चला आता; पर इस बार मेरे जाने के एक दिन बाद तक वह नहीं आया। मेरे मन में अनेक प्रकार के बहम घर करने लगे। मैं बहुत दुखी हुआ। रघुनन्दन के भविष्य की महत्ता और देशोपयोगिता पर मेरी श्रद्धा थी। मेरी धारणा थी कि यदि इसका अधःपतन हो गया, तो देश तथा समाज को एक गहरा आघात पहुँचेगा।

डेढ़ दिन बाद कहीं भाई साहब दिखाई दिए। विलायती फैशन तथा बहुमूल्य वस्त्रों से दीप्त रघुनन्दन को देख, मुझे आश्चर्य हुआ। सादे जीवन और उच्च विचार की पवित्र भावना के साधक को इतना गर्व ? साहब बैठ गया। उच्च समाज में प्रचलित चालाकी से थोड़ी देर इधर-उधर की बातें कीं। मुझसे न रहा गया। मैंने विवाह की बात पूछी।

"हाँ, अमुक सेठ की इकलौती लड़की के साथ मेरा विवाह इस महीने हो जायगा।" अँगुली पर अँगूठी का चमचमाता हुआ नग ऊपर की ओर लाते हुए उसने कहा—"तुझे भी आज बालकेश्वर चलना पड़ेगा। तेरा परिचय कराऊँगा।" बात छिपाकर और अकड़ दिखलाकर किया हुआ मित्र-द्रोह—गरीब माँ-बाप की असहाय लड़की को दगा देकर बटोरा हुआ प्रेम-द्रोह—पैसे की लालच में स्वीकार किए हुए नवीन संबंधों में तथा फैशन में डूबकर अंतर पर डाले हुए पर्दे तथा आत्मद्रोह को मैंने देखा और निःसंकोच भाव से ऐसी बेशर्मी से बातें करते देख मुझे घृणा हुई। यह रघुनन्दन ! मैंने उसे आड़े हाथों लिया और घंटे-भर में जितना कहा जा सकता था, कहा।

तिरस्कार का संपूर्ण शब्दकोष खाली हो गया, पर वह हँसता ही रहा।

अंत में उसने जवाब दिया—"देख भाई, ये सब हमारे सपने थे। हममें भला, कहीं ल्यूथर अथवा शंकर की प्रतिभा है! हम अल्प शक्तिवाले हैं। यदि हमारे पास खूब पैसा हो तो कुछ अंशों में हम उसका सदुपयोग कर सकते हैं; उससे देश का भला कर सकते हैं। केवल भाषण देने की अपेक्षा पैसे का त्याग कर, देश-सेवा करने में अधिक शोभा है। तू जरा देख तो सही। मन थोड़ा अवश्य मारना पड़ेगा, पर हम इससे जन-समाज को कितना लाभ पहुँचा सकते हैं।"

यह विचार था तो जरा हलका, पर ठीक लगता था। मुझे लगा कि रघुनन्दन अभी कुछ करेगा। लखपती होकर उच्च त्याग का आदर्श संसार के सामने रखेगा और लक्ष्मी तथा सरस्वती दोनों को प्रसन्न कर, सचमुच अपनी भावनाओं की कुछ अंशों में पूर्त्ति करेगा।

कुछ समय बाद धूमधाम से रघुनन्दन का विवाह हुआ और जैसा सुना गया है, तदनुसार उसकी परित्यक्ता प्रियतमा विरह में घुल-घुलकर छः महीने में स्वधाम पहुँच गई। उस समय रघुनन्दन महाबलेश्वर में मौज उड़ा रहा था। नई स्त्री के सघन स्नेह में डूब कर निर्धन अभागिनी की अकाल मृत्यु से भला, कहीं कोई भावना जागृत हो सकती थी? पत्र पढ़कर, फाड़कर उसे कूड़े की टोकरी में फेंककर, रघुनन्दन अपनी पत्नी के साथ टेनिस खेलने चला गया।

उसके बाद तीन वर्ष बाद मैं बम्बई आया। मुझे लेने के लिए मोटर आई थी। अक्षय पैसे के विलास में आनंद लेने का अनुभव मेरे लिए नया था। शीघ्रता से हम बालकेश्वर गये। आदमियों ने आकर मेरे लिए सुरक्षित कमरा दिखाया। सारे मकान का वैभव राजाओं के गर्व को भी मात देनेवाला था। यदि केवल बँगले का व्यर्थ का सामान बेचकर ही पैसा इकट्ठा किया जाता, तो तीसरे साल पड़नेवाले अकाल में एक भी मनुष्य या पशु न मरने पाता। एक प्राणी, जो काठियावाड़ में कुटी हुई बादाम के अभाव में अन्न-जल के बिना मृत्यु-शय्या पर पड़ा तड़प रहा था, उससे भी अधिक

अपवित्र प्राणी को प्रसन्न करने के लिए उसकी लिप्सा को संतुष्ट करने के लिए कितना खर्च, कितनी मेहनत, कितनी खुशामद !

फिर मैं रघुनन्दन से मिला। मेरे विद्वान् बाल-स्नेही की मानसिक उत्साह से चमकती हुई आँखें, उच्च अभिलाषाओं से काँपते हुए उसके शब्द, अध्ययन के गौरव से भासमान कपाल; इन सबके स्थान पर आलस्य में डूबी हुई विषयी आँखें, फैशनेबिल समझी जाती हुई पारसी भाषा, जरा बोलने में कष्ट होता हो, ऐसा लम्बा खिंचा हुआ स्वर और अनेक सुवासित प्लास्टरों से चिकना-चुपड़ा चेहरा—यह सब परिवर्त्तन देखकर मैं चौंका।

फिर जैसे ईंट, मिट्टी या काँच और लकड़ी में कुछ भव्यता-मिश्रित-सा बँगला दिखाने के लिए उसने मुझे साथ लिया। उस वर्णन से लाभ तो किसे होता ? मुझे ग्रीस का एक महात्मा याद आ गया। एक धनवान् शिष्य ने डायोजनीस को अपना भव्य महल दिखाकर प्रशंसा की आशा से उस तत्त्ववेता का अभिप्राय पूछा। डायोजनीस ने शिष्य के मुँह पर थूक दिया और हँसकर कहा—"यह सब सुन्दर है, केवल गलीच तो इतनी ही जगह है।" मुझे भी रघुनन्दन को कुछ इसी प्रकार का पारितोषिक देने का मन हुआ।

यह अमुक 'हाल' और यह अमुक 'रूम' करते-करते हम तथाकथित वाचनालय में आये। अनेक चमकती हुई आलमारियों में, बड़ी सुन्दर पीठ तथा सुनहरे नामों से सुशोभित किसी एक अस्पर्श्य-विषयी युग की वासना तृप्त करने के लिए लिखी हुई वार्ताएँ मैंने देखीं। थोड़ी-सी आलमारियों में साहित्य के ग्रंथ ज्यों-के-त्यों—बिना पन्ने कटे हुए—सुशोभित थे। अंतिम पाँच वर्षों में किसी ने उन्हें छुआ हो, ऐसा न लगता था।

"रघुनन्दन ! तेरी कालेज की छोटी पुस्तकों का क्या हुआ ? वे तो तुझे प्राणों से भी प्रिय पुस्तकें थीं।"

"अच्छा, वे छः-छः आनेवाली ! हाँ, वे तो बिलकुल निकम्मी पड़ी थीं। मैंने फिकवा दीं।"

जब वास्तविक उच्च विचारों को जननी पुस्तकें ही चली गईं, तो फिर भावनाएँ कहाँ से रहें ?

इतने में एक नौकर ने आकर कहा कि जोसफाइन बीमार हो

गई है। यह नाम सुनकर मुझे नैपोलियन महान् की स्त्री का स्मरण हो आया और रघुनंदन का चिंतित मुख देखकर यह जानने की इच्छा जगी कि यह व्यक्ति कौन होगा। हाँफते-हाँफते हम एक कमरे में गये। यह कमरा कुत्तों के कठघरे-जैसा लगता था; क्योंकि वहाँ मैंने पंद्रह-बीस कुत्ते मौज उड़ाते हुए देखे; और अपने अत्यन्त तिरस्कार के बीच मुझे यह पता लगा कि जोसफाइन एक कुतिया है। इस भाग्यशाली जानवर के लिए मोटर में डाक्टर आया और उसे आराम हो जाने पर ही रघुनन्दन शान्ति से बैठा।

उस समय उस स्वर्गस्थ प्रेममयी बालिका का स्मरण मुझे हो आया, जो रघुनन्दन की अधमता के कारण मर गई थी। मुझे रोमांच हो आया। उसके उपरान्त उसने प्रत्येक कुत्ते की जाति, कुटुंब तथा गुण इत्यादि का इतिहास मुझे बतलाया। सचमुच इतनी याददाश्त का यदि दूसरी जगह प्रयोग किया होता, तो हिन्दुस्तान का इतिहास लिखा जाता।

इसके बाद अस्तबल की अपनी यात्रा और घोड़ों के गुण का वर्णन लिखकर मैं पाठकों को कष्ट नहीं दूगा। मेरे मन में इतनी ही बात उठी कि रघुनन्दन कुत्ते या घोड़ों-गधों का व्यापारी होता, तो दुनिया के लिए अधिक उपयोगी सिद्ध होता है। सब कुछ देखा। फिर रघुनन्दन ने अपनी समृद्धि और वस्तुओं का बखान किया—"क्यों दोस्त, सब मौज है न? साली एक ही मुश्किल है।"

"क्या?" मैंने तिरस्कार से पूछा।

"आमदनी पूरी नहीं पड़ती। क्या करूँ, बड़ी मुश्किल आ गई है।"

मुझे थोड़ी देर पहले देखे हुए एक दर्जन घोड़े, दो दर्जन कुत्ते और पाँच दर्जन जूते याद आ गए। पर मैं कुछ बोला नहीं।

"तब दूसरे कामों में भी तो पैसा कहीं से खर्च में आता ही होगा?" मैंने पूछा।

"अरे! नहीं रे! एक कौड़ी भी नहीं बचती। मैं क्या करूँ।" जैसे इसमें कौड़ी का दोष हो, इस प्रकार उसने कहा—"पर नहीं दोस्त, ठीक-ठीक बता, सब चीजें जुटाई तो गई हैं मजे की न?"

"बिलकुल ठीक है, रघुनन्दन ! सबकी जगह मैंने देखी, पर एक वस्तु रखने की जगह मुझे कहीं नहीं दिखाई दी।"

"किसकी ?"

"किसकी ! यहाँ सब कुछ है, पर तेरी भावना, पुरुषार्थ के ऊँचे आदर्श, त्याग और सेवा के शुद्ध संकल्प का स्थान यहाँ कहीं दिखाई नहीं पड़ता। वे सब मानो जहाँ तू पहले रहता था, कालबा-देवी की गन्दी कोठरी में ही रह गए हैं, और पुराना रघुनन्दन भी वहीं रह गया है। ठीक है न ?"

"अपने छोटे गाँव में और थोड़ी तनखाह में मैंने अपनी भावनाओं की अधिक अच्छी तरह रक्षा की थी।"

पाँच-छः दिन तक भोगी हुई मौज से दम घुट जाने पर मैं अपने गाँव के लिए रवाना हो गया। बँगला छोड़ते हुए मुझे भर्तृहरि याद आ गए :—

साहित्य-संगीत-कलाविहीनः
साक्षात् पशुः पुच्छ विषाणहीनः।
तृणं न खादन्नपि जीवमान-
स्तद्भागधेयं परमं पशूनाम्।

साहित्य, संगीत तथा कला से विहीन मनुष्य उस पशु जैसा है, जिसके पूँछ और सींग न हो। वह तिनका नहीं खाता, फिर भी जीवित रहता है।

अभ्यास

१—इस कहानी के आधार पर रघुनन्दन के व्यक्तित्व पर अपने विचार प्रकट कीजिए।

२—बंबई के वातावरण को पाश्चात्य संस्कृति का अलबेला बाजार क्यों कहा गया है ?

३—साहित्य, संगीत तथा कला से विहीन मनुष्य को पशु क्यों माना गया है ?

४—कथाकार ने इस कहानी के माध्यम से क्या सन्देश दिया है ?

१५—अमर कथाकार शरच्चन्द्र चट्टोपाध्याय

श्री असितकुमार हल्दार

[श्री असित कुमार हल्दार न केवल अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त चित्र शिल्पी हैं, प्रत्युत बहुमुखी प्रतिभा-सम्पन्न एक साहित्य सृजक भी हैं। बँगला भाषा में उन्होंने दर्जनों साहित्यिक ग्रन्थों का निर्माण किया है, जिनमें से कई महाकाव्य हैं। कवीन्द्र रवीन्द्र के आप दौहित्र हैं।

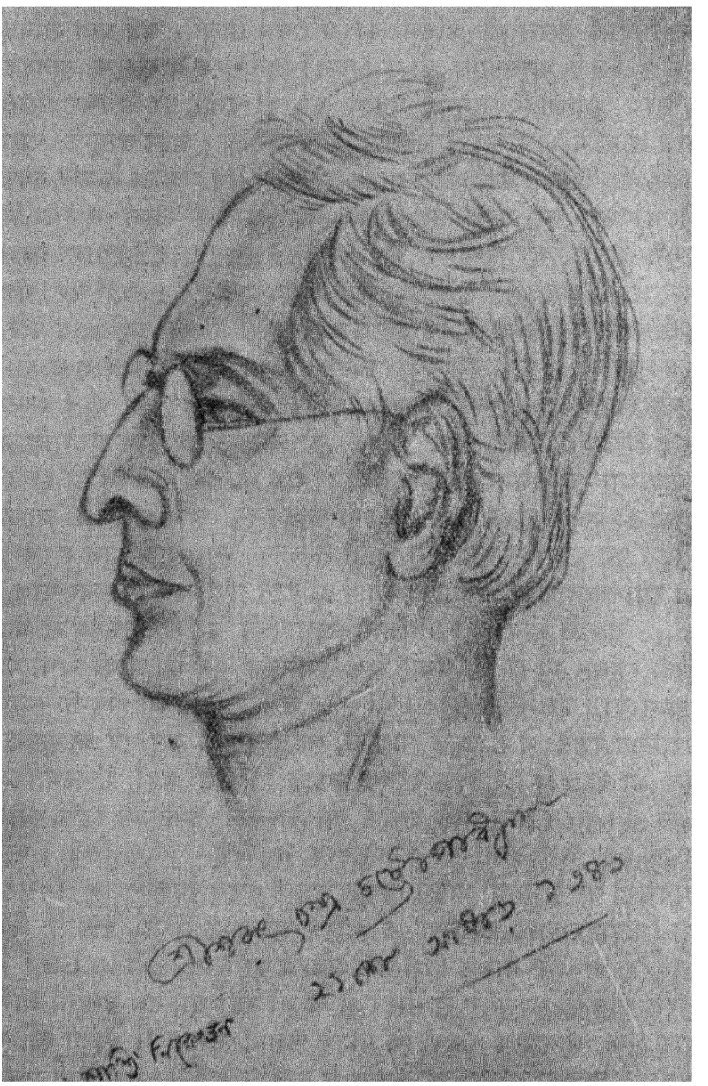
अमर कथाकार शरच्चन्द्र चट्टोपाध्याय के सम्बन्ध में श्री हल्दार का यह संस्मरण न केवल पठनीय, अपितु मनोरंजक भी है।]

शरत् से सबसे पहले मेरा परिचय 'बाँसुरी' के सम्पादक श्री नगेन्द्रनाथ वसु की मध्यस्थता से हुआ था। शरत् 'बाँसुरी' के नियमित लेखक थे और मैं उसके मुखपृष्ठों का चित्रण करता था। एक दिन अचानक ही वसु महोदय ने मुझे बताया कि शरत् बाबू रंगून से कलकत्ते पधारे हुए हैं और आगामी रविवार को ही किसी संस्थान में उनका स्वागत होने वाला है। निश्चित तिथि पर वह अपने साथ मुझे वहाँ ले भी गए, और वहीं शरत् से मेरा पहली बार परिचय हुआ। उन दिनों स्वदेशी आन्दोलन तीव्र प्रगति पर था और प्राचीन भारतीय सांस्कृतिक स्थापनाओं के प्रति भी लोगों को रुचि जगनी शुरू हो गई थी। शरत् को भी इस दिशा में काम करनेवाले लोगों के प्रति पर्याप्त सहानुभूति थी। इसी से उन्हें जब यह मालूम हुआ कि महर्षि अवनीन्द्रनाथ ठाकुर के साथ मैं भारतीय चित्रकला के पुनरुद्धार-सम्बन्धी कार्य में लगा हुआ हूँ, तब उन्हें स्वभावतः ही खुशी हुई। मुझे स्मरण है, उस दिन तो उन्होंने काफी देर तक मुझसे बातें कीं ही, बाद में भी अपने घर आने का स्नेहपूर्ण आमंत्रण उन्होंने दिया।

कलकत्ते के साहित्य-क्षितिज पर उन दिनों श्री फणिभूषण मुखोपाध्याय, श्री दिनेशचन्द्र सेन, श्री कान्तिचन्द्र घोष, श्री सुरेन्द्रमोहन मुखोपाध्याय और श्री नरेन्द्रनाथ सेन प्रभृत्ति साहित्यकारों का बोलबाला था। शरत् बाबू के आने पर तो उन लोगों में भी जैसे एक

नई जान-सी आ गई। मेरे नाना, गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर को भी उन्हीं दिनों शरत् की प्रतिभा का परिचय मिला। वह बात शायद सन् १९१४ के आस-पास की है। उन्हीं दिनों एक बार मुझे गुरुदेव के साथ शान्ति-निकेतन से प्रयाग तक की यात्रा का अवसर मिला था। साथ में श्रीचारुचन्द्र बन्द्योपाध्याय भी थे। चारु बाबू के पास शरत् की 'पंडित मोशाय' नामक पुस्तक थी। गुरुदेव ने उसे स्वयं ही माँगकर पूरी तरह पढ़ डाला और बाद में शरत् एवं उनकी रचना-शैली के सम्बन्ध में उन्होंने अपने जो विचार व्यक्त किए थे, वे अब भी एक ऐतिहासिक महत्व रखते हैं। यहाँ पर यह बात ध्यान देने योग्य है कि तब तक शरत् से उनका व्यक्तिगत परिचय नहीं था। मुझे याद है, 'पंडित मोशाय' पढ़ने के बाद उन्होंने मुझसे कहा था—"मैंने काफी दिनों से इधर-उधर की चीजें पढ़ना छोड़ दिया है, किन्तु इस पुस्तक की लेखनी तो मुझे मरुभूमि में 'ओएसिस' के समान नजर आती है।" बाद में, उन्होंने स्वयं ही इच्छा प्रकट की कि वह शरत् से मिलना चाहते हैं, और कलकत्ते वापस लौटने पर एक दिन जब हम लोगों ने उनके सामने सलज्ज शरच्चन्द्र को उपस्थित किया, तब एक अजीब ही दृश्य उपस्थित हो गया था।

तब से प्रायः ही 'विचित्रा सभा' में उनकी गुरुदेव से भेंट होती रहती थी। 'विचित्रा' एक साहित्य एवं शिल्प की चर्चा का स्थान था। इसमें शिल्पकला की ओर से शिल्पगुरु श्री अवनीन्द्रनाथ उपस्थित रहते थे। उनके साथ मैं, श्री नन्दलाल वसु एवं श्री मुकुल-देव भी रहते थे। गुरुदेव रचित नाटक प्रायः ही वहाँ मंचस्थ किए जाते थे। शरत् बाबू ऐसे प्रत्येक आयोजन में उपस्थित रहते, और उसके कई अनुष्ठानों का सभापतित्व भी उन्होंने ग्रहण किया। ऐसे अवसरों पर मुझे भी अपने विचार व्यक्त करने का अवसर मिलता था। उदाहरणार्थ कलकत्ते के बाहर कृष्णपुर में उनके साथ मैंने 'सुदूरेर संधाने' नामक दार्शनिक प्रबन्ध का पाठ किया था। जब मैं शरत् बाबू को कृष्णपुर से मोटर में ले जा रहा था, तब उन्होंने बार-बार मुझे सावधान किया कि मोटर चलाते समय मैं कुत्तों को न कुचलूँ, अन्यथा मोटर पर चलने में उन्होंने अपनी असमर्थता प्रकट की। उसी समय उन्होंने कुत्तों की स्वामिभक्ति की अनेक कथाएँ भी



शरच्चन्द्र चटर्जी

मुझे सुनाई। इस उदाहरण से पता चलता है कि मनुष्येतर प्राणियों के प्रति भी उनकी सहानुभूति कितनी विस्तृत थी।

शरत् बाबू अधिकतर साहित्य-सेवा कहानी लिखकर करते थे। इन कहानियों में विशेष रूप से चरित्र-चित्रण, सुख-दुःख की अनुभूति तथा प्रेम का संदेश था। उपदेश देने का सर्वश्रेष्ठ साधन कहानी ही है, क्योंकि वह प्रत्येक को प्रभावित करती है। आदि कवि गुरु वाल्मीकि की रामायण स्वयं एक कथा है। कोरा उपदेश हर समय अच्छा नहीं लगता, किन्तु यदि कथा द्वारा उपदेश उपस्थित किया जाए तो उसकी रूढ़ता समाप्त हो जाती है। ये सब गुण शरत् बाबू की रचनाओं में विद्यमान हैं। पाश्चात्य लेखकों में जो वीभत्स एवं दूषित मनोवृत्तियाँ पाई जाती हैं, वे शरत् बाबू में नहीं थीं। विशेष रूप से शरत् बाबू ने जो नारी-चित्रण किया है, वह भावी लेखकों के लिए मार्ग-दर्शक होगा। उन्होंने नारी को एक ऐसे पवित्र रूप में अंकित किया है कि कलुषित-से-कलुषित चरित्रवाला व्यक्ति भी उसके सम्पर्क में आकर प्रभावित हो जाता है और स्वयं को सुधार लेता है। 'चरित्रहीन', 'विराज बहू', 'परिणीता', 'विजया' आदि उपन्यासों में हमें पवित्र नारी-चित्रण के ही दर्शन होते हैं। शरत् बाबू ने नारी-जाति को फिर से उच्च स्थान प्राप्त कराया। रूपकार केवल आकार एवं रूप को ही उद्भाषित नहीं करता, अपितु अंतरंग को भी अनुरंजित करता है। संसार में जीवन-पथ पर चलते समय उन्होंने पृथ्वी को साधारण दृष्टि से नहीं निहारा, वरन् प्रखर नयन की दृष्टि से निहारा। इसी दृष्टि से शरत् बाबू ने अपने उपन्यासों में चरित्र-चित्रण उपस्थित किए हैं, और इसी कारण वे हृदयस्पर्शी एवं सजीव भी प्रतीत होते हैं। समाज के निष्ठुर आघात से व्यथित निम्न श्रेणी के लोगों के प्रति उन्होंने अपूर्व सहानुभूति दिखाई और अपने लेखों में उन्हें विशेष स्थान प्रदान किया, और इसी के परिणामस्वरूप हमारे देश के अभिजात-वर्ग की आँखें भी खुल सकीं।

१९ वीं शताब्दी में भारत में साहित्य-सम्राट् बंकिमचन्द्र ने 'अवदान' नामक उपन्यास रचकर उपन्यास की प्रथा आरम्भ की थी। यद्यपि पाश्चात्य देशों में उपन्यास-कला का आविर्भाव बहुत पहले ही हो चुका था, तथापि उन दिनों भारतीय उपन्यासों का भविष्य

अंधकारमय था। 'लैला मजनू', 'हुस्ने बगदाद' आदि फारसी-कहानियों की ही बहुतायत थी। आज से ६० वर्ष पूर्व बंकिमचन्द्र ने सर्वप्रथम उपन्यास-जगत को आतंकित किया। 'दुर्गेश-नन्दिनी' की रचना इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है। इसमें भाव, कल्पना, उच्चकोटि की शैली आदि का विचित्र समावेश है। इस उपन्यास की मौलिक कल्पना की सौन्दर्य-कमनीयता तथा रचना-माधुर्य ने उसे सर्वश्रेष्ठ स्थान प्राप्त कराया। शरत् बाबू ने इसी पथ का अनुसरण किया। उनकी भाषा की विशेषता यही है कि उसमें प्रांजलता के साथ-साथ सरलता भी है। उनकी रचनाओं को एक साधारण पढ़ा-लिखा व्यक्ति भी आसानी से समझ सकता है। यही कारण है कि उन्होंने जनता के मन को मुग्ध किया। उनके मानस-दर्पण में विश्व-प्रकृति का प्रतिबिम्ब था और उसमें था मनुष्य-जीवन के सुख-दुःख का चरित्र-प्रकाश। सौन्दर्य केवल सम्भोग के लिए नहीं, अपितु प्राण के चारित्रिक आनन्द के लिए है। उनका उत्फुल्ल जीवन वसन्त के मधुचक्र के समान समस्त जीवन को स्पर्श करता है। प्रभात, मध्याह्न, संध्या, निशि आकाश को असह्य आग्रह एवं आनन्द के गम्भीर रस से परिपूर्ण करते हैं। दैनन्दिन जीवन को देखते हुए रवीन्द्रनाथ एवं शरत् बाबू में यही अन्तर था कि रवीन्द्रनाथ नियमों के जितने पालक थे उतने शरत् बाबू नहीं। प्रायः हम लोग जब उनसे मिलने जाते तब वह अपने साथियों के साथ काफी एवं हुक्के में लीन दिखाई देते थे, और यदि कोई उठने का प्रयत्न करता तो उन्हें बड़ा कष्ट प्रतीत होता था। ऐसे समय वह फौरन ही कह उठते थे—"आप समय के ऐसे ही दास क्यों हैं, बैठिए न ?"

विद्याध्ययन के विषय में यही कहना उचित होगा कि उस दिशा में गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ने जिस प्रकार अमित धैर्य का परिचय दिया था, उसकी तुलना में शरत् बाबू का अनुराग उस ओर बहुत ही कम था। गुरुदेव एक ओर यदि महान् लेखक थे, तो दूसरी ओर उन्होंने संसार के समस्त ज्ञान, विज्ञान, दर्शन, साहित्य आदि का अध्ययन किया था। विश्व के किसी भी कोने में कोई नई पुस्तक प्रकाशित होती, तो वह गुरुदेव के अध्ययनकक्ष में निश्चय ही पहुँच जाती। शरत् बाबू के सम्बन्ध में यह कहना उचित होगा कि यह

उनकी दैवी प्रतिभा ही थी कि वह बिना किसी विशेष अध्ययन के ही एक विराट् रूप-साहित्य का निर्माण कर सके। वास्तव में ऐसी प्रतिभा बहुत कम लोगों में देखने को मिलती है। बंकिमचन्द्र ने भी असीम अध्ययन के पश्चात् ही रचना करने की प्रतिभा का प्रदर्शन किया था, और उत्तरदायित्वपूर्ण पद पर रहने के बाद भी उन्होंने गम्भीर अध्ययन करना नहीं छोड़ा। परन्तु शरत् बाबू की तुलना इन महान् व्यक्तियों से करते समय यही कहना पड़ेगा कि वह स्वयंप्रभ ह थे। उनका हृदय-कमल स्वयं ही प्रस्फुटित हुआ था और उनकी समस्त रचनाएँ प्रत्यक्ष दर्शन के आधार पर ही अधीष्ठित हैं।

शरत् बाबू सदा नशे में इतने विभोर रहते थे कि उन्हें व्यावहारिक जगत का ज्ञान ही नहीं रहता था। यहाँ तक कि एक बार उन्होंने अपने एक मित्र से बताया था—"मुझे स्वयं यह ध्यान नहीं कि मैंने अपने उपन्यासों को किस प्रकार रूपदान किया है, क्योंकि एक बार तो मैंने नशे में विभोर होकर तीन उपन्यास एक साथ लिखने प्रारम्भ किये थे—एक आरम्भ से, एक मध्य से और एक अन्त से। मैंने ये तीनों उपन्यास कैसे समाप्त किए, यह मुझे आज तक नहीं ज्ञात!"—और उनकी यह अपूर्व प्रतिभा सम्भवतः उनके पूर्वजन्म के संस्कारों का ही परिणाम थी। 'ग्राम-समाज', 'देना-पावना' तथा 'दत्ता' नामक उपन्यासों के आधार पर उन्होंने तीन नाटक भी रचे थे। यद्यपि वह बचपन में स्वयं नाटक खेला करते थे, तथापि नाटक-रचना की ओर उनका ध्यान बहुत ही कम था। जब उन्होंने युवावस्था में पदार्पण किया तब भागलपुर में उनकी प्रसिद्धि एक अभिनेता के रूप में थी। वह एक कुशल रंगमंच-निर्देशक भी थे। यही कारण है कि अभिनय-सम्बन्धी ज्ञान उन्हें काफी मात्रा में प्राप्त हो गया था। इन्हीं भावों का प्रदर्शन उनके नाटकों में है। नाटक में चरित्र-सृष्टि करने के दो साधन होते हैं—प्रथम, पात्रों को घटनाओं के द्वारा दर्शकों के सामने प्रकट करना और दूसरा, घटनाओं की परम्परा के अन्दर जीवन का परिवर्तन दिखाना। यह परिवर्तन अच्छा भी हो सकता है और बुरा भी। उपन्यास के लिए लेखक को इतने बन्धन नहीं होते। उसमें लचीलापन होता है। उक्त बातों का विश्लेषण करते हुए शरत् बाबू ने स्वयं एक पत्र पशुपति बाबू को

लिखा था। वर्तमान समय में शरत् बाबू के प्रत्येक उपन्यास को रजतपट पर स्थान देने का प्रयत्न किया गया है।

शरत् बाबू को उपन्यास रचने की प्रेरणा गुरुदेव रवीन्द्र-रचित 'गोरा' पढ़कर प्राप्त हुई थी। उन्होंने स्वयं कहा है कि 'गोरा' को उन्होंने कम-से-कम पचास बार पढ़ा है। सर्वमुखी प्रतिभा प्रतिभावान् व्यक्ति का उसी प्रकार पथ-प्रदर्शन करती है, जिस प्रकार उज्ज्वल भास्कर कमल का और स्निग्ध चन्द्रिका धरती का, और शरत् इसी कोटि के व्यक्ति थे। उनकी स्मृति में हमारे कोटि-कोटि प्रणाम।

अभ्यास

१—कथाकार शरच्चन्द्र की शैली के सम्बन्ध में गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ने क्या विचार प्रकट किये थे? उस विचार से आप कहाँ तक सहमत हैं, उदाहरण देकर समझाइए।

२—शरत् बाबू का नारी-चित्रण भावी लेखकों के लिए मार्ग-दर्शक क्यों कहा गया है?

३—शरत् बाबू के उपन्यासों का चरित्र-चित्रण हृदयस्पर्शी और सजीव क्यों प्रतीत होता है? उनके किसी उपन्यास के किसी ऐसे पात्र का चरित्र-चित्रण कीजिए, जिसे आपने पढ़ा हो।

४—समास-विग्रह और सन्धि-विच्छेद कीजिए :—

पुनरुद्धार, रवीन्द्रनाथ, शरच्चन्द्र, विद्याध्ययन।

१६—बिहारी के दोहे

कविवर बिहारीलाल

[कविवर बिहारीलाल का जन्म संवत् १६६० के लगभग चौबे ब्राह्मण-वंश में ग्वालियर के निकट हुआ था। जयपुर के राजा जयसिंह के ये दरबारी कवि थे। आपकी मृत्यु संवत् १७२० में हुई थी।

रीतिकाल के सर्वश्रेष्ठ शृंगारी कवियों में बिहारीलाल की गणना की जाती है। इनका केवल एक ही ग्रन्थ 'बिहारी सतसई' प्राप्य है, जिसमें ७१९ दोहे हैं। कहते हैं, इस ग्रन्थ के प्रत्येक दोहे के लिए कवि को दरबार से एक मोहर पुरस्कार-स्वरूप मिलती थी।

शृंगार-रस के ग्रन्थों में 'बिहारी सतसई' का श्रेष्ठ स्थान है। इसमें व्यंजना का सुन्दर चमत्कार और अलंकारों के प्रयोग में निपुणता का दर्शन स्थान-स्थान पर मिलता है। सतसई के अधिकांश दोहे शृंगार रस के हैं। कुछ में नीति और वैराग्य भी है। इन दोहों में बड़े-बड़े भावों को सुचारु रूप से अत्यन्त संक्षेप में व्यक्त किया गया है। इससे बिहारी की प्रतिभा और उनके भाषा-पांडित्य का पता चलता है। साधारण-सी बात भी बड़े मार्मिक ढंग से कही गई है। बिहारी की भाषा ब्रज भाषा है जिसमें उर्दू-फारसी के शब्दों का भी यत्र-तत्र प्रयोग मिलता है।]

सीस मुकुट, कटि काछनी, कर मुरली, उर माल।
यहि बानक मों मन बसौ, सदा बिहारी लाल ॥१॥
मेरी भव-बाधा हरौ, राधा नागरि सोय।
जा तन की झाईं परै, स्याम हरित दुति होय ॥२॥
अधर धरत हरि के परत, ओठ दीठ पट-जोति।
हरित बाँस की बाँसुरी, इन्द्र धनुष रँग होति ॥३॥
सघन कुंज-छाया सुखद, सीतल सुरभि-समीर।
मनु ह्वै जात अजौं वहै, उहि जमुना के तीर ॥४॥
जिन दिन देखे वे कुसुम, गई सु बीति बहार।
अब अलि रही गुलाब में, अपत कँटीली डार ॥५॥

जप-माला छापा-तिलक, सरै न एकौ कामु।
मन काँचै नाचै वृथा, साँचै राचै रामु ॥६॥
अति अगाध अति ओथरो, नदी कूप सर बाय।
सो ताको सागर जहाँ, जाकी प्यास बुझाय ॥७॥
मीत न नीति गलीति ह्वै, जो धरिए धन जोरि।
खाए खरचे जो बचे, तौ जोरिए करोरि ॥८॥
बसै बुराई जासु तन, ताही को सनमान।
भलो-भलो कहि छोड़िए, खोटे ग्रह जप दान ॥९॥
नर की अरु नल-नीर की, एकै गति करि जोइ।
जेतो नीचो ह्वै चलै, ते तो ऊँचो होइ ॥१०॥
इहीं आस अटक्यौ रहौ, अलि गुलाब के मूल।
ह्वै हैं फेरि बसन्त ऋतु, इन डारिन वे फूल ॥११॥
कनक कनक तें सौ गुनी, मादकता अधिकाइ।
उहि खाए बौराइ जग, इहि पाए बौराइ ॥१२॥

अभ्यास

१—इस पाठ में दिये गए दोहों में आपको कौन-सा दोहा रुचिकर प्रतीत हुआ और क्यों ?

२—तीसरे दोहे का अर्थ अपने शब्दों में समझाइए।

३—बारहवें दोहे में प्रयुक्त अलंकार का विश्लेषण कीजिए।

४—छठवें दोहे में कवि का संकेत किन लोगों के प्रति है ?

५—बिहारीलाल के दोहों में आपको क्या विशेषता मालूम पड़ती है ?

१७—मोल-तोल

श्रीमती हीरादेवी चतुर्वेदी

[हिन्दी की प्रख्यात् कवयित्री श्रीमती हीरादेवी चतुर्वेदी का जन्म २ मई, १९१५ को खण्डवा (मध्यप्रदेश) में हुआ। आपकी शिक्षा-दीक्षा महिला नार्मल स्कूल, जबलपुर में हुई।



मधुमास, मधुबन, नीलम और मंजरी नामक आपके चार कविता-संग्रह हैं। 'मधुमास' पर उत्तरप्रदेशीय सरकार द्वारा आपको ४००) चार सौ रु० का पारितोषिक प्रदान किया जा चुका है। 'उलझी लड़ियाँ' आपका सुप्रसिद्ध कहानी-संग्रह है, जिस पर उत्तरप्रदेशीय सरकार आपको ५००) पाँच सौ रु० का पुरस्कार दे चुकी है। 'रंगीन पर्दा' आप के कलात्मक और पारिवारिक एकांकी नाटकों का संग्रह है।

महिलोपयोगी मासिक पत्रिका 'मनोरमा' की आप कई वर्ष तक प्रधान संपादिका रह चुकी हैं।

'मोल-तोल' बड़ी ही हृदयस्पर्शी कहानी है। इसमें एक साहित्यकार के स्वाभिमान और जीवन-व्यापी संघर्षों का मार्मिक चित्रण किया गया है।]

तार-तार-सी हो चुकी साड़ी में पैबन्द लगाने की कहीं कोई गुंजाइश नहीं, फिर भी कमला सुई-धागा लेकर अपनी साड़ी में पैबन्द लगा रही है। इच्छा-अनिच्छा का प्रश्न ही नहीं। दुनिया में बहुत-से काम मानव को अनिच्छापूर्वक भी करने पड़ते हैं न! सो, पैबन्द लगाने का यह काम भी कमला अनिच्छापूर्वक ही कर रही है। ऐसे काम करते समय मानव का मन स्वभावतः भटक जाता है। काम पर वह केन्द्रित नहीं रह पाता। कमला के हाथों की अँगुलियाँ

सुई-धागे के साथ पैबन्द लगा रही हैं; उसकी आँखें इस काम को यथाविधि देख रही हैं; लेकिन उसका मन अतीत के निकुंजों में भटक रहा है। हाँ, भटकना ही तो इसे कहा जायेगा। कभी अतीत के सुनहरे दिनों, कभी वर्तमान के नीरस दिनों और कभी भविष्य के अदृश्य दिनों की अस्पष्ट-सी पगडण्डी पर जो लक्ष्यहीन-सा दौड़ रहा हो, वह भ्रमित नहीं तो और क्या है ?

बचपन के सुनहरे क्षणों को कमला कोई महत्व नहीं देती। लड़की होकर माता-पिता की छाया में सदा रह सकना सम्भव जो नहीं ! कभी-कभी वह इतना अवश्य सोचती है कि जन्म देकर लाड़-दुलार से पुत्री के पालन-पोषण और उसकी तोतली बातों से लेकर उसके बिदा हो जाने के समय के कातर रुदन तक, जिन स्मृतियों का पुंज माता-पिता सहेजकर अपने पल्ले बाँध रखते हैं, वह पता नहीं किस अभिशाप के कारण, लड़की का ससुराल भेज देने की विवश कठोर शिला से टकराकर छिन्न-भिन्न हो जाता और माता-पिता को बेबस बना जाता है।

नये घर में जाकर शायद कुछ समय के बाद अनुकूल वातावरण पाकर लड़की भले ही उन सारी बातों को भूल जाती हो; लेकिन माता-पिता इन बातों को कभी भुला नहीं पाते। जो कुछ भी हो, दुनियादारी के रस्म-रवाजों का बन्धन धीरे-धीरे कमला को भी ऐसा ही बना चुका है—उसे बन जाना पड़ा है। कहाँ तक माता-पिता की सुखद स्मृतियों का स्मरण कर वह तिलमिलाती रहे। इसी लिए वह बचपन की स्मृतियों में कभी उलझती नहीं।

लेकिन तरुणाई की रङ्गीनियों को—दाम्पत्य जीवन के प्रारम्भिक क्षणों को—वह कैसे भूले ? पाणिग्रहण के समय की वह चिरस्मरणीय सात फेरियाँ। हर्षोल्लास के उस वातावरण में पहली बार जब कमला की माँग लाल-लाल सिन्दूर से भरी गई, उसकी कोमल कलाइयों में दो-दो सोने की और चार-चार काँच की चूड़ियाँ हौले-हौले पहनाई गईं, पैरों में महावर की लाल-लाल रेखाएँ रञ्जित की गईं, और जीवन-सङ्गी के साथ जब वह अपने कहे जानेवाले, किन्तु सर्वथा अपरिचित घर में आई, तब उसकी मनोदशा बहुत ही अजीबो-ग़रीब-सी थी।

हर्ष और विषाद के दो विशद क्षेत्रों को मिलानेवाली देहरी पर वह खड़ी थी। जीवन-सङ्गी से मिलकर दाम्पत्य जीवन की रङ्गीनियों के स्पर्श करने का हर्ष जहाँ उसके मानस-सर में उद्वेलित हो रहा था, वहीं माता-पिता से बिछुड़ जाने का विषाद भी हिलोरें ले रहा था।

ससुराल में आकर कमला को संयुक्त परिवार की परेशानियों का सामना कभी नहीं करना पड़ा। एकमात्र बूढ़ी सास थीं यहाँ। सो, वह भी दो साल के बाद इस दुनिया से कूच कर गई। ननद-ननदोई अथवा देवर-देवरानियाँ कोई नहीं थीं। आधुनिक युग के संघर्षशील वातावरण में इस सबको कमला अभिशाप नहीं, प्रत्युत वरदान समझती है। कमला के जीवन-संगी मोहन बाबू भी कभी-कभी कह उठते हैं—'आजकल की परेशानियों के वक्त में जिस परिवार में जितने कम व्यक्ति हों, उतना ही अच्छा है, कमला!'

'क्यों नहीं!' कमला शायद विद्रूप के स्वर में कहती—'जो सर्वथा एकाकी रहता होगा, वह सबसे अधिक चैन में।'

कमला के इस विद्रूप को मोहन बाबू समझ नहीं पाते। अधिक स्पष्टीकरण की अपेक्षा करते हुए उसकी तरफ वह एकटक देखने लगते। तभी कमला कह देती—'मेरा मतलब है कि पत्नी भी जिसके न हो, वह बड़े मजे में रहता होगा।'

मोहन ने पहली बार यह सुना, तो एक धक्का-सा लगा हृदय पर। कमला के इस उद्गार में जो विद्रूप था, उसे वह भली भाँति समझ गया। उसने स्वीकार किया कि यह सब कमला के प्रति व्यक्त की गई उसकी झुँझलाहट का ही करारा जवाब उसे दिया जा रहा है। वह चुप रह गया एक क्षण के लिए। कमला को कोई उत्तर देने के पहले उसने अपने ही व्यवहार की मीमांसा कर लेनी चाही।

कमला शायद ठीक ही कह रही है। दाम्पत्य की सुखद आशाओं को सँजोये वह अपने तन-मन का अर्घ्य जिसे अर्पित कर चुकी और प्रतिदान में जिसे एकाध साल ही सरसता का स्पर्श कर सकने के बाद रात-दिन तीखी झुँझलाहट और बात-बात में बेरुखी फटकार सुननी पड़ती हो, उसका यह विद्रूप कदाचित् ठीक ही है।

अपराधी की तरह अपना दोष स्वीकार करते हुए मोहन

बोला—'मेरा मतलब यह नहीं था, कमला ! लेकिन तुमने जो कुछ समझा वह भी गलत नहीं। यह मेरे स्वभाव की जबरदस्त त्रुटि है कि तनिक-तनिक-सी बात पर मैं खीझ उठता हूँ। क्या करूँ मैं ? अपनी भावुकता को सदा के लिए दफना देने की मैं कितनी कोशिश करता हूँ; लेकिन कभी कामयाबी हासिल नहीं हो पाती। उलटे मैं ही दग्ध होता जा रहा हूँ। कभी-कभी मैं सोचता हूँ, इस सबके लिए मेरे स्वभाव की कमजोरी शायद उतनी जिम्मेवार नहीं, जितनी आज के युग की विषमता।'

कमला समझ गई कि उसके जीवन-सङ्गी अपने सरल हृदय की यह कैफियत दे रहे हैं। यह बात नहीं कि इनकी सदाशयता और सहृदयता पर कमला को आस्था नहीं। लेकिन रात-दिन की झुँझलाहट से उसका भी खीझ उठना स्वाभाविक-सा होता जा रहा है न ! फिर भी अपनी खीझ को संयमपूर्वक दबाते हुए कहा उसने कहा—'खीझ और भावुकता—दोनों का उद्गम एक ही है। मस्तिष्क की जिन ग्रन्थियों से ये उद्भूत होती हैं, उन पर नियन्त्रण रख सकना आसान नहीं। लेकिन कोशिश तो हमें करनी ही चाहिए न ! फिर, इस खीझ से जब मैं देखती हूँ कि तुम्हारे स्वास्थ्य पर भी धक्का पहुँच रहा है, तब मैं इसके उपचार का पता लगाने के लिए बहुत ही अधीर हो उठती हूँ।'

'खोज सकीं या नहीं, कोई उपचार ?'

'अब तक तो नहीं।'

'भविष्य में खोज सकने की कोई आशा है ?'

'कह नहीं सकती !'

'तब व्यर्थ है अधीर होना, कमला !' मोहन ने कहा।

कमला जैसे अपना लक्ष्य-बेध कर चुकी थी। कहा उसने—'नाराज न हों, तो यही बात आपके लिए भी लागू होती है। जिस खीझ का कोई उपचार नहीं, जिस झुँझलाहट से कठिनाइयों के कम होने की कोई आशा नहीं, उसके लिए कोई प्रयत्न करना अथवा मानसिक ऊहापोह पर तिरना व्यर्थ ही है न ! मैं तो यही कहना चाहती हूँ कि जीवन-संग्राम की कठिनाइयों का सामना धीरज के साथ करते

जाइए। अपना मन कभी मैला न होने दीजिए। सफलता-असफलता, आशा-निराशा सबका सामना समान रूप से करते जाइए।'

और, कमला ने उस दिन की इस बातचीत का ऐसा कुछ प्रभाव देखा अपने पति पर कि उनकी खीझ और झुँझलाहट अपने-आप तिरोहित होती गई। आज की असाधारण विषम परिस्थितियों में भी मोहन बाबू बराबर प्रसन्न दीखते हैं। लेकिन उनकी इस प्रसन्नता में अब कमला किसी कृत्रिमता का आभास पाने लगी है। हाँ, कृत्रिमता!

पहले किसी भी कठिनाई का स्पर्श करते ही मोहन बाबू घर में आते ही अपनी खीझ प्रकट करने लगते थे। उस खीझ से कमला को, मोहन बाबू के जीवन और उनकी भावनाओं को स्पर्श करने-वाली झंझटों का बहुत कुछ पता चल जाता था। लेकिन अब? अब तो उसे पूछने पर भी कभी यह ज्ञात नहीं हो पाता कि घर के बाहर कहाँ, क्या और कैसी परेशानियों से उसके पति को अपना सर टकराना पड़ रहा है।

लेकिन कोई कहे या न कहे, दिल और दिमाग़ को परेशान करनेवाली घटनाओं की प्रतिच्छाया मानव के—कम-से-कम औसत दर्जे के साधारण मानव के—चेहरे पर बराबर अपना प्रभाव अङ्कित कर देती है। और, मोहन बाबू भी साधारण मानव ही हैं। वह कहें या न कहें, लेकिन कमला-जैसी नारी उनकी मनोदशा को बहुत अच्छी तरह भाँप लेती, पढ़ लेती और समझ लेती है। इस सबको समझ लेने की क्षमता शायद कमला में न भी आ पाती, लेकिन मोहन बाबू की रात-दिन की खीझ ने ही उसे यह क्षमता प्रदान कर रक्खी है। यह बात दूसरी है कि कमला यह सब समझ लेने के बावजूद भी मौन रह जाती है। वह अपने पति को टोककर उनकी भावनाओं को उकसाना नहीं चाहती; उन्हें परेशान नहीं करना चाहती। परन्तु कभी-कभी कमला को अपने इस संयम की सीमा-रेखा का अतिक्रमण करना ही पड़ता है।

अभी थोड़े ही दिन पहले की बात है। ठण्ढ जोरों से पड़ रही थी। सन्ध्या समय जब अन्धकार की गहरी काली छाया इस दुनिया पर फैल जाती और घर-घर में दीपक जल जाते, तब कहीं

मोहन बाबू अपने कार्यालय से घर लौट पाते। आते ही उनका पहला काम होता चाय पीना। इसके बाद नन्हें से दस-पाँच मिनट बातें करते, तब कोई दूसरा काम। लेकिन उस दिन मोहन बाबू घर आकर बाँस की आराम-कुर्सी पर आकर जो बैठे, तो बैठे ही रहे। नित्य की तरह न तो उन्होंने हाथ-मुँह धोया, न यह पूछा कि चाय तैयार है या नहीं।

कमला को यह समझने देर न लगी कि आज कोई परेशानी मोहन बाबू के अन्तर को छू गई है। लेकिन उसने जान-बूझकर अपने पति को टोका नहीं। पन्द्रह-बीस मिनट के बाद कमला ने चाय तैयार कर ली और छोटी मेज पर नाश्ता और चाय रखकर, नन्हें को मोहन बाबू के पास भेजकर उसने चाय पीने का अनुरोध करा दिया।

नन्हें ने अपने पिता के पास पहुँच, उनके एक हाथ पर अपना हाथ रखते हुए कहा—'दादा, चाय पीलो।'

'अच्छा, बेटा!' मोहन बाबू ने नन्हें के सिर पर अपना एक हाथ फेरते हुए कहा और कुर्सी से उठ, हाथ-मुँह धोकर चाय पीने जा बैठे।

मोहन बाबू का मन नहीं हो रहा था कि चाय पियें। लेकिन अपनी खीझ और झुँझलाहट को व्यक्त न करने और कमला के मानस-सर को तज्जन्य परिणाम से उद्वेलित न करने का जो निश्चय वह कई महीने पहले कर चुके हैं और संयमपूर्वक इस दिशा में वह सफल भी हो रहे हैं, उससे दूर जा छिटकने की गलती वह नहीं करना चाहते। जो कहीं उन्होंने चाय पीने से इनकार कर दिया और कमला उनकी खीझ को समझ गई तो...?

लेकिन इतना करने पर भी मोहन बाबू अपनी मनोदशा पर आज पूरा-पूरा नियंत्रण नहीं रख सके। चाय पी लेने से हो क्या होता है? नित्य की तरह आज वह कोई बात भी तो नहीं कर रहे थे। और, यह समझने का विवेक ही शायद उनमें नहीं रह गया था कि उनका यह मौन ही उनकी विक्षुब्ध मनोदशा को व्यक्त करने के लिए पर्याप्त था।

चाय पीकर नन्हें बाहर चला गया—अपने पड़ोसी दोस्तों के

साथ खेलने-कूदने। कमला ने पान के बीड़े मोहन बाबू को देते हुए कहा—'आज तुम्हारी तबीयत कुछ सुस्त दीखती है ?'

'हाँ !' मोहन बाबू ने संक्षिप्त-सा उत्तर देकर मानो अपनी मनोदशा को इस कमला नारी से छिपा लेने का प्रयत्न करना चाहा।

'सर्दी लग गई है शायद ?' कमला ने फिर पूछा।

'हाँ।'

'और भी कोई बात हुई है शायद आज ?' कमला अपना लक्ष्य-बेध करना चाहती थी।

'हाँ !'

इतने प्रश्नों का उत्तर रटे-रटाये तोते की तरह सिर्फ 'हाँ' में पाकर कमला ने अज्ञात परेशानी की विषमता का अनुमान तो बहुत कुछ कर लिया, परन्तु उसे जान लेने की जिज्ञासा का समाधान जब तक न हो जाता, उसे चैन कहाँ ? इसी लिए उसने कहा—'मैं देखती हूँ, इधर बहुत दिनों से तुम अपने मन की बातें मुझसे छिपाये रहते हो।'

'मैं अपनी स्वाभाविक कमजोरी को मिटाने के लिए ही ऐसा किये जा रहा हूँ, कमला।' मोहन ने बैठी-सी आवाज में कहा—'फिर, तुम्हीं ने तो ऐसा करने की सलाह मुझे दी थी न ?'

'सो तो मुझे प्रसन्नता है कि तुम इस लाइलाज रोग का दमन करने में काफी सफल हो रहे हो। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि कभी, कोई भी गम्भीर बात मुझे न बतलावें।'

'सोचता हूँ, जिस बात के बतलाने से मात्र पीड़ा के और कुछ तुम्हें न मिलेगा, उसे छिपाये रहने में बुराई ही क्या है ?'

'क्यों नहीं !' कमला ने कहा—'बुराई तो जरूर है। हाँ, दृष्टिकोण में अन्तर भले ही हो सकता है।'

'क्या बुराई है ?' मोहन ने पूछा।

'यही कि मन की खीझ जबरदस्ती दबाने से तुम तो विक्षुब्ध रहते ही हो, मुझे भी कम पीड़ा नहीं होती।'

और, कमला नारी की यह बात सुन, मोहन को लगा कि नारी का हृदय भी एक पहेली से कम नहीं। कभी यह कमला कहती है, खीझ और झुँझलाहट से अभिभूत होना व्यर्थ है। इसके व्यक्ति-

करण से दूसरों को भी अप्रकट ज्वालाओं से झुलसना पड़ता है। और, कभी कमला कहती है कि मैं जो मन की खीझ जबरदस्ती दबाता हूँ, इससे भी कम पीड़ा नहीं होती। उत्तर भी चलती है और दक्षिण भी! फिर भी इस बात में जाने क्यों मोहन को एक ऐसी स्नेहिल सहानुभूति का पुट मिला, जिसके स्पर्श से वह पुलकित हो उठा। उसके मन का विक्षोभ धीरे-धीरे तिरोहित होने लगा। तभी उसने अपने मन का विक्षोभ प्रकट कर दिया। आज की सारी बातें बतला दीं।

कमला को जब यह पता चला कि जिस कार्यालय में मोहन बाबू काम कर रहे थे, उसे सदा के लिए ठुकराकर ही उस दिन वह घर लौटे हैं, तब वह एक क्षण के लिए स्तब्ध रह गई। भावी जीवन-संघर्ष की विकट विभीषिकाएँ जैसे उसके कानों में जोरों से अट्टहास कर उठीं। उसने तो यही अनुमान किया था कि होगी कोई साधारण-सी परेशानी। दो महीने पहले तक मोहन बाबू जिस प्रकार तनिक-तनिक-सी बात को लेकर खीझ उठते थे, उसी तरह की किसी बात की आशा करना कमला के लिए स्वाभाविक था। लेकिन नौकरी छोड़ देने की उसने कभी कल्पना भी नहीं की थी। इसी लिए तो वह स्तब्ध रह गई।

लेकिन इस स्तब्धता के जाल से मुक्त होते ही उसने स्वीकार किया कि उसके पति मोहन बाबू ने कोई बुरा काम नहीं किया। नौकरी करने का जहाँ तक संबंध है, वह जानती है कि मोहन बाबू घोर परिश्रमी और अपने विषय के उद्भट विद्वान हैं। कदाचित् इसी लिए उन्हें मालिक की ठुकरसुहाती नहीं भाती। वह ऐसा कर नहीं सकते। परन्तु आज के युग में पूँजीपतियों का रवैया कुछ अनोखा ही है। वे नौकरी करायँगे कसकर, मेहनताना देंगे कम-से-कम और तुर्रा यह कि इतने पर भी यह अपेक्षा करेंगे कि नौकरी करनेवाला साहित्य-सृष्टा भी उनकी हाँ-में-हाँ मिलाने का आदी हो। जो ऐसा नहीं कर सकता, वह-चाहे जितना श्रमी और विद्वान क्यों न हो, पूँजीपतियों की समझ में उसका कोई मूल्य नहीं। बाजार की वस्तुओं के मोल-तोल की तरह ही ये पूँजीपति साहित्यिक का भी मूल्य आँकना चाहते हैं। इस दशा में, मोहन जैसा पत्रकार इन

पूँजीपतियों के इंगित पर नाचना कहाँ तक उचित समझता ? सम्मान बेचकर काम करना उसे स्वीकार नहीं।

कमला को विश्वास था कि अपने छोटे-से परिवार का भरण-पोषण करने लायक मोहन बाबू घर बैठे ही बहुत-कुछ उपार्जन कर सकते हैं। कितने ही पत्रों में वह नियमित रूप से लिखते हैं। फिर, नौकरी छूट जाने पर यह लिखाई और भी अधिक हो सकती है। सबसे बड़ी बात महायुद्ध अब समाप्त हो चुका था। अतः कमला को यह भी एक आशा थी कि बाज़ार की महँगाई भी सम्भवतः बहुत शीघ्र कम हो जायेगी।

लेकिन अनुमान सदा सत्य नहीं होता। नौकरी छोड़ने के थोड़े ही दिनों में कमला का आर्थिक-संकट विकट-से-विकटतर होता गया। पत्र-पत्रिकाओं का यह हाल कि एक मास में प्रकाशित हो चुकी कहानियों अथवा लेखों का पारिश्रमिक तीन-तीन चार-चार महीनों तक प्राप्त न होता। स्थानीय प्रकाशक मोहन की आवश्यकताओं का अनुचित लाभ उठाना चाहते और उसकी मौलिक पुस्तकों को मिट्टी-मोल ले लेने की कसम खा चुके प्रतीत होते।

मोहन को यह सब स्वीकार नहीं। वह भूखों मर जाना श्रेयस्कर समझता; परन्तु इन अवसरवादी प्रकाशकों को अपनी पुस्तकें देना तो दूर, इनसे कोई बात करना भी अपमानजनक समझता। स्वाभिमान को बेच देना मोहन अपनी आत्म-हत्या जो समझता है ! लेकिन इस स्वाभिमान का महँगा मूल्य उसके साथ-साथ कमला को भी चुकाना पड़ रहा है।

मोहन के परिवार की स्थिति आज इतनी गिर चुकी है कि कमला की धोती तार-तार हो चुकी है। उसमें पैबन्द लगाने की कहीं कोई गुंजाइश नहीं, फिर भी वह पैबन्द लगाये जा रही है। उसके अन्तर की नारी इस दयनीय स्थिति से एक अप्रकट ग्लानि का अनुभव भी करती है। लेकिन उसे सन्तोष है अपने स्वाभिमानी पति पर, जो किसी धनवान के आश्रय में रहकर, उसका गुलाम नहीं बनना चाहता।

माना कि वर्त्तमान समाज किसी साहित्यकार को अपना उपयोगी अङ्ग नहीं समझता और फलतः आज का साहित्यकार

केवल साहित्य-रचना को ही जीविका का साधन नहीं बना सकता। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि शोषक वर्ग के अन्याय का प्रतिकार भी आज का साहित्यकार न करे। यह प्रतिकार तो उसे करना ही होगा। तभी उसकी साहित्य-सेवा का उचित मूल्यांकन—मोल-तोल हो सकेगा। साहित्यकार तो जीवन के स्वप्न और यथार्थ—दोनों का विश्लेषण करता है; सुन्दरता का सृजन करता है और जीवन के सत्य का अपने ढङ्ग से सन्देश सुनाता है। फिर वह अन्याय का प्रतिकार क्यों न करे?

मोहन कहीं बाहर गया है—शहर से बाहर। सुना था कि कलकत्ते और पटने के प्रकाशक उचित पारिश्रमिक देकर मौलिक उपन्यास लेते हैं। मोहन भी किसी तरह राह-खर्च जुटाकर वहीं गया है। लेकिन आज सात दिन हो चुके, उसका कोई पत्र भी नहीं आया। पता नहीं, उसे कहीं कोई सफलता मिल रही है या नहीं।

सन्ध्या हो जाने पर भी कमला अपनी तार-तार-सी हो चुकी धोती में पैबन्द लगाती हुई नन्हें को कहानी सुना रही है, और उसके अन्तर की नारी अपने पिया के पत्र की बाट जोह रही है। शायद डाकिया सन्ध्या की डाक से कोई पत्र ला रहा हो!

अभ्यास

१—कमला के मानसिक द्वन्द्व को अपने शब्दों में चित्रित कीजिए और उसके संबंध में अपना स्वतंत्र अभिमत व्यक्त कीजिए।

२—मोहन को अपने मालिक की ठकुरसुहाती क्यों नहीं भाती थी? आधुनिक युग में उसके इस स्वभाव को आप गुण कहेंगे या दुर्गुण?

३—इस कहानी के आधार पर हमारे देश के साहित्यकारों की दशा पर प्रकाश डालिए।

४—समास-विग्रह कीजिए :—

लक्ष्यहीन, पाणिग्रहण, लाइलाज, साहित्य-सृष्टा, मूल्यांकन।

१८—वह अनोखा अग्निहोत्र

श्री महादेव भाई देसाई

[राष्ट्र-पिता महात्मा गान्धी के प्रख्यात प्राइवेट सेक्रेटरी श्री महादेव भाई देसाई का जन्म १ जनवरी, १८९२ को हुआ था। आपकी शिक्षा सूरत और बंबई में हुई थी। बी० ए०, एल-एल० बी० की परीक्षाएँ उत्तीर्ण कर अहमदाबाद में आपने वकालत प्रारंभ की। बाद में आपकी वृत्ति साहित्य की ओर हुई। कवीन्द्र रवीन्द्र के प्रख्यात नाटक 'चित्रांगदा' तथा शरच्चन्द्र के उपन्यास 'विराज बहू' का गुजराती में आपने सुन्दर अनुवाद किया। बँगला भाषा पर आपका असाधारण अधिकार था। गुजराती और अँगरेजी में आपने कई पुस्तकें लिखी हैं।

गांधीजी से प्रभावित होकर आप उनके संपर्क में आये और जीवन-भर उनके प्राइवेट सेक्रेटरी रहे। वस्तुतः गांधीजी के वह अनन्य और विश्वस्त साथी थे।

१९४२ के अगस्त-आंदोलन में जब आप गांधीजी के साथ आगा खाँ पेलेस, पूना में नजरबन्द थे, तब वहीं १५ अगस्त १९४३ को आपका अचानक देहान्त हो गया।

प्रस्तुत निबन्ध महादेव भाई देसाई के उन दस लेखों में से एक का प्रमुख अंश है, जो 'हरिजन-बन्धु' में उन्होंने 'वह अनोखा अग्निहोत्र' शीर्षक से लिखे थे।

८ मई १९३३ को बारह बजे दोपहर में बापू का २१ दिन का ऐतिहासिक उपवास प्रारंभ हुआ था। उसी दिन बापू को संध्या समय जेल से मुक्त कर दिया गया था; किन्तु महादेव भाई १९ मई को यरवदा जेल से छूटे और १९ तथा २० मई को वे पूना में बापू के साथ रहे। बाद में बापू ने उन्हें साबरमती आश्रम भेजा, जहाँ से २६ मई को लौटकर वे बापू के पास आये। २६ से २९ मई तक—उपवास की पूर्णाहुति तक—की डायरी यहाँ दी जा रही है।]

अमानत वापस

२५ मई १९३३ को आश्रम से वापस चलकर २६ मई को मैं 'पर्णकुटी' में उपस्थित हुआ। दिन रात होनेवाली चिन्ता में मैंने

प्रत्यक्ष भाग नहीं लिया था, पर उलटे दूर रहने के कारण मेरी मानसिक चिन्ता अधिक बढ़ गयी थी। यहाँ आकर यह मानसिक चिन्ता कम हो गयी। १६ मई को यरवदा जेल से छूटने पर मेरे मन पर जो छाप पड़ी थी, २६ तारीख को आने पर उससे दूसरी ही छाप पड़ी और २८ तारीख को उससे भी भिन्न छाप पड़ी। मेरे छूटने से पहले भाई देवदास की तरफ से मुझे खबरें तो जेल में मिलती ही रहती थीं। एक दिन मुझे खबर मिली थी—और उसके लिए मैं तैयार था—कि 'बापू दिन-दिन अधिक अन्तर्मुख होते जा रहे हैं, शरीर का ध्यान थोड़ा ही रखते हैं।' उस दिन बापू का दिनों-दिन ज्यादा दुर्बल होता हुआ शरीर देखकर देवदास ने कहा था, 'बापू, आप हजामत बनवा लें तो शायद हमें आपका कुम्हलाता हुआ चेहरा कुछ कम कुम्हलाया हुआ दिखाई दे और चिन्ता कम हो जाय।' बापू ने कहा था, 'हजामत आज नहीं, तीसरे हफ्ते, या इससे भी अच्छा तो यह है कि आखिरी दिन कराऊँ। मुझे शरीर का विचार कम-से-कम आता है और रामनाम के सिवाय मुझे किसी दूसरी चीज का विचार ही नहीं करना है।'

इतने पर भी जब मैं २६ तारीख को आया, तब मुझे चिन्ता हो रही थी कि मैं क्या जवाब दूँगा। आश्रम से उन्होंने क्या आशा रखी होगी और मैं उनकी आशा को कहाँ तक पूरा करूँगा। २६ तारीख को पहुँचते ही मुझे बुलाया। पर मुझे मालूम हो गया कि मेरी चिन्ता का कुछ भी कारण नहीं था। मैंने कहा कि 'आश्रम में खूब बातें की हैं, आपके पत्र वगैरा बार-बार पढ़कर समझ लिये हैं और आपका उपवास खुलने के बाद आपसे ज्यादा चर्चा करूँगा।' इस पर उन्होंने प्रसन्नता से कहा—'यह ठीक है।'

उस दिन उन्हें किसी बात की परवाह नहीं थी। पर २८ तारीख को मानो उनकी मनोवृत्ति में परिवर्त्तन हो गया। मैंने उन्हें इस ढंग से विचार करते हुए देखा, मानो उन्होंने अपना शरीर, जो वे ईश्वर के सुपुर्द कर चुके थे, वापस ले लिया। २८ को सुबह मौन लेने से पहले जब उन्होंने मुझे बुलाया, तब मैंने देखा कि उनकी शांति का कोई पार नहीं था। उन्होंने पूछा—'कल के लिए क्या कार्यक्रम रखा है? डाक्टर अनसारी कुरान शरीफ की कोई

आयत बोलेंगे। ईसाई सेवा संघवाले कोई भजन गायेंगे। हमारा वैष्णव जन तो है ही।' मैंने कहा—'हमने ऐसा ही कुछ सोच रखा था। हमारी योजना यह थी कि यह प्रार्थना ११॥ बजे शुरू की जाय और १२ बजे पूरी कर दी जाय, ताकि १२ बजे आप उपवास खोल सकें।' उन्होंने तुरन्त ही कहा—'नहीं, सब कुछ प्रार्थना के बाद। और उपवास तो १२ बजे शुरू हुआ था, इसलिए १२ बजे ही पूरा होगा। उसके बाद ही प्रार्थना करनी है।'

पूज्य कस्तूरबा तो सुबह से मुझसे पूछ रही थीं कि गांधीजी ने ८ मई के दिन कितने बजे आखिरी फलाहार किया था, और जब मैंने उनसे कहा कि आखिरी फलों का रस ११॥ बजे लिया था, तब उन्हें आशा थी कि २६ को भी ११॥ बजे ही उपवास खुल जायगा। इधर गांधीजी ने तो ऐसी योजना बताई कि ठेठ १२॥ बजे ही सब कुछ पूरा हो। पूज्य कस्तूरबा जरा परेशान हुईं। मैंने हँसते-हँसते कहा—'बा, २१ दिन से १ घंटा और ज्यादा सही।' कस्तूरबा हँसीं। गांधीजी भी जरा हँसे और इशारा किया कि यही ठीक है। इतना होने के बाद शाम को ५ बजे फिर मुझे उनके पास जाना पड़ा,—जाना इसलिए पड़ा कि उनके मौन के कारण बड़े अक्षरों में लिखी हुई कुछ सूचनाएँ उनके परिचारक पढ़ नहीं सके थे।

उन्होंने अब मन में निश्चय कर लिया था कि ईश्वर को सौंपी हुई अमानत ईश्वर ने वापस दे दी है और उसका अधिक उपयोग करने का विचार तो करना ही पड़ेगा।

चमत्कार

२६ मई को दुनिया को विश्वास हो गया कि चमत्कार का जमाना अभी बीत नहीं गया है। कैसे बीते? चमत्कारमय, लीलामय, परम करुणानिधान सतत क्षण-क्षण हमारे साथ है, था और रहेगा—जिसे यह श्रद्धा है, उसे इसमें शंका हो ही नहीं सकती कि क्षण-क्षण चमत्कार होते ही रहेंगे। फर्क सिर्फ इतना ही है कि चमत्कार का अर्थ दुनिया का और गांधीजी का अलग-अलग है। जब उपवास से पहले एक अखबारवाले ने गांधीजी से कहा था कि डॉक्टर तो कहते हैं कि 'इस बार आप बच जायँ तो चमत्कार ही

होगा।' तब गाँधीजी ने तुरन्त कहा था—'अच्छा, तो मैं कहता हूँ कि चमत्कार का जमाना बीत नहीं गया।' इसका कोई यह अर्थ न करे कि अगर गांधीजी का शरीर नष्ट हो जाता, तो यह सिद्ध हो जाता कि करुणामय ईश्वर के चमत्कार बन्द हो गए हैं। गांधीजी तो उस घटना को भी ईश्वर का चमत्कार ही मानते, क्योंकि सच्चे ईश्वर-भक्त के लिए घटना-मात्र एक चमत्कार ही है। यह श्रद्धा शुद्ध प्रपत्ति से पैदा होती है। और यह श्रद्धा जिसकी रग-रग में व्याप्त होती है, उसके क्षणिक उद्‌गारों में भी दीर्घ चिंतन की ही झंकार सुनाई देती है, उसके प्रासंगिक विनोदों में भी गंभीर सत्य छिपा रहता है। ऐसे ही निश्चित होकर बैठे हुए कोई महात्मा मस्त होकर कह सकते हैं—'उसे रखना होगा तो रखेगा और उठा लेना होगा तो उठा लेगा।' छः तारीख को जब हरिजन युवक आया और उसके साथ मीठा संवाद करके गांधीजी ने उसे कहा कि 'तू २९ तारीख को बारह बजे एक नारंगी लेकर आना, मैं तेरी नारंगी के रस से उपवास खोलूँगा,' तब उस वचन में मधुर विनोद ही नहीं था बल्कि करुणा-मय की लीला का दर्शन था। इसलिए उन्होंने उपवास छूटने के चार दिन पहले डॉ० विधान राय से कहा था—'हार गया तो भी जीत होगी!' महात्मा कबीर के वचनों में हम यह मस्ती पाते हैं। शरीर को चादर की उपमा देकर उस सिद्धहस्त जुलाहे ने, भगवान् ने उसे किस तरह बुना, इसका वर्णन किया और फिर अपने बारे में कहा कि :

दास कबीर जतन से ओढ़ी
ज्यों-की-त्यों धर दीनी चदरिया।

जिसने अपनी चादर हमेशा के लिए जैसी-की-तैसी बुनकर को सौंप दी है, वही उस जुलाहे के साथ खेल खेल सकता है, बाजी लगा सकता है। यह मस्त फकीर ही गा सका :

तन मन धन बाजी लागी,
हो तन मन धन बाजी;
हारी तो पिउ की भई रे,
जीती तो पिउ मोर हो।

—तन मन धन बाजी

जिस प्रकार हार और जीत दोनों को जो अपनी मानता ही नहीं, जिसने ये दोनों ईश्वर को सौंप दी हैं, वही कह सकता है कि हार जीत दोनों मेरे लिए अच्छी हैं, दोनों में मेरी जीत है।



अनोखा अग्निहोत्र-बापू

सोने का सूर्य

फिर भी हमारे जैसे प्राकृत जनों के लिए उनके जीने में ही जीत थी, उनके जीने में ही चमत्कार था; और वे मौत के मुँह में से वापस आ जायँ, इसी में हिन्दुस्तान के लिए सोने के सूर्य का उदय था। हजारों और लाखों ने यह प्रार्थना की थी और उस प्रार्थना को

सुनकर लीलामय भगवान् ने २६ तारीख के दिन सोने का सूर्य उगाना मंजूर किया। ८ मई को जो गंभीर पावक दृश्य जेल में दिखाई देता था, वही दृश्य २६ मई के दिन 'पर्णकुटी' में सबको देखने को मिला। ८ मई को गांधीजी सरकार के कैदी थे। उस दिन सरकार के बंधन में जितना गांभीर्य और पावित्र्य लाया जा सकता था, उतना लाना था। आज स्वतंत्र रूप में हम सूर्य पर जितना मुलम्मा चढ़ा सकते हैं, उतना चढ़ा सकते थे। पर सरोजिनी देवी ने अपने छलकते हुए कवित्व और उमड़ती हुई उदारता को दबाकर सोने के सूर्य को चमक देने की इच्छा को रोक लिया, जान-बूझकर थोड़े ही आदमियों को बुलाया, और अनुदार बनकर बहुतों को इनकार कर दिया था। पर हरिजनों के लिए उन्होंने छूट रखी थी।

सब लोग अवसर के गांभीर्य के अनुरूप शांति रखकर बैठे थे, बच्चे भी शांत थे। अखबारवाले भी अपने कैमरे वगैरह छोड़कर आये थे। उपवास का आरंभ रामधुन से हुआ था, उसकी पूर्णाहुति भी रामधुन से शुरू हुई।

अभ्यास

१—गान्धीजी के २१ दिन के उपवास में उनके किस बल का परिचय प्रतिबिम्बित था? उस बल को चमत्कार क्यों कहा गया है?

२—अर्थ स्पष्ट कीजिए :

'दास कबीर जतन से ओढ़ी
ज्यों-की-त्यों धर दीनी चदरिया।'

३—बापू के जीने में ही हिन्दुस्तान के लिए सोने के सूर्य का उदय क्यों था?

४—समास-विग्रह कीजिए और भेद बतलाइए :

अन्तर्मुख, पूर्णाहुति, करुणानिधान, फलाहार।

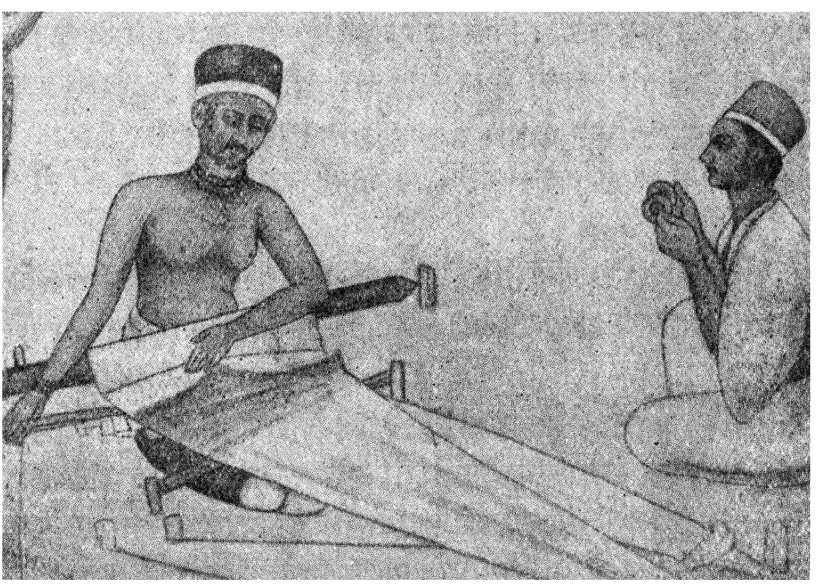
५—श्री महादेव भाई के संबंध में आप क्या जानते हैं?

१६—कबीर के पद

सन्त कबीरदास

[कबीरदास का जन्म संवत् १४५६ ई० में काशी में हुआ और लगभग ११८ वर्ष की आयु भोगकर, ये संवत् १५७५ में परलोकवासी हुए। ये एक विधवा ब्राह्मणी के पुत्र कहे जाते हैं। लोक-लज्जा के कारण ये लहरतारा तालाब के किनारे फेंक दिये गये, जहाँ से एक जुलाहा दम्पति नीरू और नीमा इन्हें उठा ले गये। उन्होंने इनका पालन-पोषण पुत्रवत् किया।

कबीरदास को पढ़ने-लिखने का सुयोग नहीं मिल सका; किन्तु इन्होंने सत्संग और देशाटन खूब किया था जिससे इनका ज्ञान और सांसारिक अनुभव बहुत ठोस और विस्तृत हो गया था।



कबीरदास एक गृहस्थ थे। इनकी स्त्री 'लोई' और पुत्र 'कमाल' प्रसिद्ध हैं। कपड़ा बुनकर ये अपनी जीविका प्राप्त करते थे, फिर भी इनका जीवन एक सच्चे साधु की भाँति व्यतीत होता था।

कबीरदास काशी के प्रसिद्ध वैष्णव महात्मा रामानन्द के शिष्य थे। इन्हें जाति-भेद, छुआछूत, अंधविश्वास और पूजा के बाहरी आडंबरों से बड़ी

घृणा थी। हिन्दू-मुसलमान के भेदभाव को ये बुरा समझते थे। इनके चलाये हुए कबीरपन्थ में सभी वर्णों के मनुष्य सम्मिलित हुए। इन्होंने हिन्दुओं और मुसलमानों के धार्मिक दंभ एव आडम्बरों की बड़ी तीव्र आलोचना की और राम-रहीम का समन्वय कर हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य की ओर ये निरन्तर प्रयत्नशील रहे। वस्तुतः ये एक सच्चे समाज-सुधारक थे।

सत्संग के कारण कबीर के ऊपर अनेक धर्मों का प्रभाव पड़ा था। इनका कबीरपंथ वेदान्त, मुसलमानी एकेश्वरवाद सूफीमत, एवं हठयोग सभी से प्रभावित है। ये निर्गुण ब्रह्म के माननेवाले ज्ञानमार्गी थे।

साहित्यिक कसौटी पर कबीरदास की कविता और भाषा बहुत खरी नहीं उतरती। इनकी भाषा पँचमेल खिचड़ी है, जिसमें पूरबी, ब्रज, अवधी, राजस्थानी, पंजाबी तथा खड़ी बोली—सभी का समावेश है; शब्दों के रूप अस्थिर एवं व्याकरणसम्मत नहीं हैं; छन्दशास्त्र की दृष्टि से इनकी कविता में अनेक त्रुटियाँ पाई जाती हैं; फिर भी इनकी वाणी में अद्भुत आकर्षण है! इनकी कविता में सच्ची अनुभूति है, निष्कपट प्रदर्शन है और सुन्दर दृष्टान्त हैं।

कबीर के नीति-संबंधी कथन बहुत खरे और सच्चे हैं। इन्हीं गुणों के कारण इनकी उक्तियाँ इतनी लोकप्रिय एवं प्रभावशालिनी हैं।

कबीर ने परोक्षसत्ता-सम्बन्धी उक्तियों द्वारा रहस्यवाद की भी नींव डाली है।

कबीरदास की गणना हिन्दी के नवरत्नों में की जाती है। लोकप्रियता एवं प्रभाव की दृष्टि से तुलसी के बाद कबीर का ही नाम लिया जाता है।]

[१]

का माँगूँ कुछ थिर न रहाई, देखत नैन चला जग जाई॥
इक लख पूत सवा लख नाती, ता रावन घर दिया न बाती॥
लंका-सा कोट समंद-सी खाई, ता रावन की खबर न पाई॥
आवत संग न जात सँगाती, कहा भयो दर बाँधे हाथी॥
कहै 'कबीर' अंत की बारी, हाथ झाड़ जैसे चले जुवारी॥१॥

[२]

मन रे हरि भजु हरि भजु हरि भजु भाई!
जा दिन तेरो कोई नाहीं, ता दिन राम सहाई॥
तंत्र न जानूँ, मंत्र न जानूँ, जानूँ सुन्दर काया॥
मीर मलिक छत्रपति राजा, ते भी खाये माया॥

वेद न जानूँ, भेद न जानूँ, जानूँ एकहि रामा ॥
पंडित-दिसि पछिवारा कीन्हाँ, मुख कीन्हाँ जित नामा ॥
राजा अंबरीस कै कारन, चक्र सुदरसन जारै ॥
दास 'कबीर' को ठाकुर ऐसौ, भगत कौ सरन उबारै ॥२॥

[३]

करम-गति टारे नाहिं टरी ।
मुनि बसिष्ठ-से पंडित ज्ञानी सोध के लगन धरी ॥
सीता-हरन मरन दशरथ को बन में बिपति परी ।
कहँ वह फंद, कहाँ वह पारधि, कहँ वह मिरग चरी ॥
सीया को हरि लैगो रावन सुवरन लंक जरी ।
नीच हाथ हरिचन्द बिकाने बलि पाताल धरी ॥
कोटि गाय नित पुन्न करत नृग[1] गिरगिट जोनि परी ।
पांडव जिनके आपु सारथी, तिनपर बिपति परी ॥
दुरजोधन को गरब घटायो जदुकुल नास करी ।
राहु केतु और भानु चन्द्रमा विधि संयोग परी ॥
कहत 'कबीर' सुनो भाई साधो, होनी होके रही ॥३॥

अभ्यास

१—कबीरदास की भाषा के संबंध में अपने विचार व्यक्त कीजिए ।

२—पहले पद में जिस अन्तर्कथा का कबीरदास ने संकेत किया है, उसे संक्षेप में बताइए ।

३—तीसरे पद में कबीर ने जिस कर्म-गति का उल्लेख किया है, उससे आप कहाँ तक सहमत हैं और क्यों ?

४—निम्नलिखित शब्दों को खड़ी बोली में रूपान्तरित कीजिए :—
रहाई, आवत, सहाई, कीन्हाँ, सोधके ।

५—कबीरदास के संबंध में आप क्या जानते हैं ?

---

[1] इक्ष्वाकुवंशी राजा नृग, जो बड़ा ज्ञानी, दानी, और धर्मात्मा था ।

२०—जेल-जीवन की एक झाँकी

श्री दत्तात्रेय बालकृष्ण कालेलकर

[काका कालेलकर का जन्म सन् १८८५ में सावंतवाड़ी के निकट एक छोटे-से गाँव में हुआ था। गुजराती के आप यशस्वी साहित्यकार हैं और गांधी-वादी विचारधारा के सुविख्यात विचारक हैं। आपने अनेक ग्रन्थों की रचना की है, जिनमें से अधिकांश के मराठी व हिन्दी अनुवाद प्रकाशित हो चुके हैं। आप भारतीय कला के जीवनदर्शी मीमांसक हैं।

आप गुजरात विद्यापीठ के आचार्य और 'सर्वोदय' तथा 'सबकी बोली' नामक मासिक-पत्रों के कुशल संपादक के रूप में विख्यात हैं। आजकल आप राज्य-परिषद् के नामांकित सदस्य भी हैं।

वर्धा में आपने राष्ट्रभाषा आन्दोलन को सक्रिय सहयोग दिया और देव-नागरी लिपि में अनेक सुधारों की ओर भी महत्त्वपूर्ण सुझाव दिये हैं।

सन् १९२२ में आपने जेल में रहकर जो अनुभव बटोरे थे, वे 'उत्तर की दीवारें' नामक पुस्तक के रूप में प्रकाशित हो चुके हैं। प्रस्तुत उद्धरण आपकी इसी पुस्तक से लिया गया है।]

एक दिन प्रातःकाल पौ फटने के पूर्व ही मुझे अपने बिस्तर पर काला-काला कुछ हिलता हुआ दिखाई दिया। आँखों में अभी नींद तो थी ही। अतः मैंने सोचा कि वह व्यर्थ का वहम है। कुछ प्रकाश होते ही देखा कि एक बड़ा कनखजूरा बिस्तर की बगल से होकर दीवार की ओर दौड़ रहा है। आधे घण्टे बाद ताला खड़का और दरवाजा खुला; अतएव मैंने एक झाड़ू लाकर कनखजूरे को बाहर फेंक दिया। पाँच साल पहले तो मैं कनखजूरे को देखते ही मार डालता था, किन्तु गुजरात में आकर अहिंसा की छूत लग जाने से इस कनखजूरे को मारने की इच्छा नहीं हुई। मैंने तो उसे कोठरी के बाहर फेंक दिया, पर मेरा पड़ोसी इस्माइल थोड़े ही सीधा बैठने-वाला था। उसने झाड़ू उठाकर एक ही झपाटे में कनखजूरे को इस

जन्म से मुक्त कर दिया। उसने मुझसे कहा—'काकासाहब! आप जरूर इसकी शिकायत कीजिएगा। सप्रीडंड को यह बताना चाहिए।'

इतने में ही इस्लाम आज़ाद वहाँ आया और कहने लगा—'कनखजूरा कान में आकर कान खा जाय, तो सरकार के बाबा का क्या जाता है? हमारा नुकसान हो जाय, तो उसका जिम्मेदार कौन है?'

देखते-ही-देखते कौंसिल इकट्ठी हो गई और कनखजूरे की बात को लेकर कौन-सा काण्ड खड़ा किया जा सकता है, इस बात की चर्चा होने लगी।

मैंने कहा—'पर मुझे ऐसा कुछ भी करने की इच्छा नहीं है'।

वे सब कौंसिलर इस प्रकार का मत बाँधकर कि 'महात्माजी का शिष्य तो ऐसा ही ढीला होता है;' नाराज होते हुए अपनी-अपनी कोठरी की ओर चल दिये।

कनखजूरा वहीं पड़ा था। सुपरिण्टेण्डेण्ट आया। उसने उसे देखा। उसने मेरी ओर भी इस आशय से देखा कि मैं उसके सम्बन्ध में कुछ शिकायत करूँगा। पर मैं चुप रहा। उसी क्षण एक कौवा आया और कनखजूरे को उठा ले गया। बस, यहीं पर कनखजूरा-पुराण समाप्त हो गया।

जेल में आँगन साफ रखा जाता है। हर साल दीवारें पोती जाती हैं। प्रति पन्द्रहवें दिन धरती लीपी जाती है। किन्तु ऊपर की खपरैलों में बरसों का कचरा तथा कैदियों द्वारा छिपाई हुई चीजें पड़ी रहती हैं। उनमें से ही ऐसे कनखजूरे आ गिरते हैं। मैंने ऐसा सुना है कि एक बार भाई शेब कुरेशी* को रोटी में से कनखजूरा मिला था। सहज बातचीत करते हुए जब मैंने सुपरिण्टेण्डेण्ट से रोटी में से कनखजूरा निकलने की यह बात कही, तो वह कहने लगा—'ऐसा तो हो ही नहीं सकता। बीशी के व्यवस्थापक पर खार खानेवाले किसी कैदी ने जान-बूझकर रोटी में कनखजूरा रख दिया होगा।'

× × ×

---

*शेब कुरेशी—गांधीजी के कारावास के समय सन् १९२२ में 'यंग इंडिया' के सम्पादक।

मैंने कहा—'अवश्य ! जेल की व्यवस्था में त्रुटि होना असंभव है। कुदरत के कानून तथा जेल की व्यवस्था, ये दोनों तो सदा निर्दोष ही रहेंगे !'

अब कौवों के घोंसले बनाने के दिन आये। कौवे दूर-दूर से टहनियाँ चुन लाते और पेड़ पर जमाते। टहनी जरा बड़ी होती अथवा जैसी चाहिए वैसी न होती, तो कौवे उसे लाकर मेरी कूँडी में डालते। दस-पन्द्रह मिनट में जब वह अच्छी तरह से भीग जाती, तब उसे उठाकर ले जाते। एक दिन एक कौवे को लोहे के तार का एक मोटा टुकड़ा मिला। घास की गठरी बाँधने में ऐसे तार का उपयोग होता है। इस तार से बीसवीं सदी के इस मयासुर ने एक लौह-प्रासाद निर्माण करने में अथक परिश्रम किया, किन्तु वह तार तो अक्कड़ ही रहा। अन्त में उसे सूझा कि चलो इसे पानी में डाल कर भिगोयें। दो से चार बजे तक उसने प्रयत्न जारी रखा। पहले एक सिरा पानी में डाला, फिर दूसरा, फिर बिचला भाग। दो घण्टे के निष्फल प्रयत्न के बाद कौवेराम ने यह पदार्थ-विज्ञान सीखा कि लकड़ी और लोहे के गुणधर्म एक-समान नहीं होते। किन्तु अन्त में उसने अपने घोंसले में उस तार का उपयोग तो किया ही।

एक दिन अल्लादाद दौड़ता हुआ आया और कहने लगा—'काकाजी, काकाजी, जरा इधर तो आइए। हमने एक कौवा पकड़ा है।' जाकर देखता हूँ तो सचमुच ही चतुर कौवा भी धोखे में आ गया था। कौवा कोठरी में पकड़ा गया था। उसके पाँव में एक लम्बी डोरी बाँध रखी थी। (कैदी के पास डोरी कहाँ से आई ? खानगी-व्यवस्था से ही।) कौवे ने दुनिया-भर के तमाम काकाओं को सहायता के लिए दौड़ने को पुकारा, किन्तु मैं अकेला ही वहाँ हाजिर था। मैंने अल्लादाद की आजिजी को और कौवेराम ने छुटकारा पाया। मेरा विश्वास है कि इस कौवे ने फिर से जेल का मुँह तक नहीं देखा होगा। पैर बँध गया इसकी परवाह नहीं, मर जाता तो उसकी भी परवाह न थी। किन्तु कौवा धोखे में आ गया, यह लज्जा उसकी सारी जाति के लिए असह्य हो उठी होगी।

× × ×

कौवों की भाँति गिलहरियों का भी यहाँ साम्राज्य था। दिन-

भर आँगन में और पेड़ पर दौड़ा-दौड़ मचाती रहतीं। साँझ को छप्पर पर फिरतीं। दोपहर को भोजन करते समय (हमारे) पास आकर पूछतीं—'मुझे नहीं ?' अपने नितम्बों पर बैठकर, हमारे फेंके हुए रोटी के टुकड़े को दोनों हाथों से पकड़कर अपने तीखे-तीखे दाँतों से कुतर-कुतर कर खातीं और कूँडी का पानी पीतीं। साँझ होते ही अधिकांश गिलहरियाँ छप्पर के चारों कोनों पर आकर खूब क्रन्दन करतीं। ये उनके आनन्दोद्गार थे या शोकोद्गार ? इसे हम कैसे जानें ? किन्तु मेरे कानों को तो वह करुण क्रन्दन दमयन्ती-विलाप जैसा ही लगता। रोज साँझ को पाँच बजे नियमित यह विधि चालू होती। एक दिन खूब वर्षा हुई। अपार क्रन्दन हुआ। किन्तु दूसरे दिन से वह शान्त हो गया।

हम अपने बिछौने के कम्बलों को प्रतिदिन धूप में रखते थे। ये गिलहरियाँ वहाँ आकर दाँतों से ऊन खींच-खींचकर बाहर निकालतीं, आगे के पैरों तथा मुँह की सहायता से गोल-गोल फिराकर उसकी गोली बनातीं और छप्पर की खपरैलों में उसे ले जाकर घोंसला बनाने के काम में लेतीं। इस तरह से उन्होंने बहुत-से कम्बलों में छेद कर दिये और जगह-जगह घोंसले तैयार हो गए। मेरी कोठरी के दरवाजे पर ही ऐसा एक घोंसला दिखाई पड़ता था। कुछ ही दिनों बाद वहाँ तीन बच्चे दिखाई दिए। उनकी माता हमारे पास से रोटी के टुकड़े ले जाती और उन बच्चों को खिलाती। निःसन्देह माँ का दूध सूख जाने के बाद ही बालक अनाज खाने लगे थे।

एक दिन एक बच्चा ऊपर से नीचे आ गिरा। सामने के नीम पर बैठे कौवे के मुँह में पानी भर आया, किन्तु बच्चा मेरी कोठरी में घुस गया। मैंने अन्दर जाकर थोड़े ही प्रयास से बच्चे को पकड़ लिया। पर उसे उसके ऊँचे घोंसले में कैसे रखा जाय ? मैंने जोर से आवाज देकर शामल भाई को बुलाया। वे मेरे दरवाजे के आगे बैठ गए। एक हाथ में बच्चे को लेकर तथा दूसरे हाथ से दरवाजे की लोहे की छड़ें पकड़कर मैं उनके कन्धे पर खड़ा हो गया। फिर शामल भाई धीरे-धीरे खड़े हो गए। इस प्रकार मेरा हाथ घोंसले तक पहुँच गया और डर के मारे काँपता हुआ बच्चा सही-सलामत

अपने घर पहुँच गया। बच्चे की माँ को क्या पता था कि मैं उसका हितेच्छु हूँ ? उसने अपनी तिर्यग्-भाषा में मुझको अनेकों गालियाँ दीं, शाप दिये और जब उसका बच्चा कुशलपूर्वक घोंसले में पहुँच गया, तब भी अपना दोष देखने की अपेक्षा माँ ने यही कहा होगा— 'परमात्मा का उपकार कि मेरा प्यारा बालक इन दुष्टों से छुटकारा पा सका।' किन्तु उन मूर्ख बच्चों पर तो इसका उलटा ही प्रभाव पड़ा। क्योंकि अब वे बेपरवाह होकर दो-तीन बार ऊपर से नीचे आ गिरे; और प्रत्येक बार मुझे तथा शामलभाई को सरकस की कसरत करनी पड़ी। किन्तु भूयोदर्शन * से गिलहरी माता को यह विश्वास हो गया कि ये लोग वाल्मीकि के शाप के योग्य निषाद नहीं हैं, किन्तु हरिण-शावक का पालन करनेवाले जड़भरत जैसे ही कोई हैं।

इसी अरसे में नीम पर कौवे के बच्चे भी अंडों से बाहर निकले। पशु-पक्षियों में अपत्य-रक्षण की वृत्ति सबसे प्रबल होती है। आज तक बहुत से कैदी दातुन तोड़ने के लिए प्रतिदिन प्रातः या सायं-काल नीम पर चढ़ते थे। कुछ तो जेल के बाहर की दुनिया का दर्शन करने के लिए भी नीम पर चढ़ते। 'वह आपका आश्रम रहा ! वह तिमंजला एक दूसरा मकान रहा !' यों वे मुझे सुनाते और मुझे भी नीम पर चढ़ने के लिए निमंत्रण देते। वृक्ष पर चढ़ना तो जेल के नियम के अनुसार ६ दिन की माफी कट जाने जैसा अपराध है। एक ही साल के लिए मैं जेल में आया था, इसलिए अपराध करके भी बाहरी दुनिया देखने की मेरी इच्छा नहीं थी।

किन्तु जब नीम पर कौवों के बच्चों का वास हुआ, तब उस पर चढ़ने का किसी भी कैदी का साहस न रहा। कौवे झपटकर चोंच मारते अथवा सिर पर से टोपी उड़ा ले जाते। यदि कैदी अपनी टोपी खो दे, तो बेचारा उसके साथ ही नौ दिन की माफी से भी हाथ धो बैठे। एक कौवी ने नीम पर चढ़नेवाले शामल भाई पर तथा अन्य दो कैदियों पर मन में खास खार रखा। इनको देखती कि वह चोंच मारे बिना रहती ही नहीं। हमारा झाड़ूवाला बूढ़ा पीली टोपी पह-नता था। उस पर उस कौवी का विशेष रोष था। इसलिए पीली

---

*बारंबार दर्शन

टोपीवाला जो भी कैदी नीचे से होकर निकलता, उसे भी उसका चंचु-प्रसाद मिले बिना नहीं रहता। वह इधर-उधर से आकर सिर पर, कन्धे पर या कनपट्टी पर चोंच मारकर भाग जाती। दिन-प्रति-दिन यह अत्याचार इतना बढ़ता गया कि अन्त में नूरमहम्मद ने सिर पर चादर लपेटकर नीम पर चढ़ कौवे का घोंसला नीचे उतार लिया। उसमें पंखहीन, ऊँट जैसी आकृतिवाले कौवे के तीन बच्चे थे। वे मुँह बाए पड़े हुए थे। उनके मुँह अन्दर से सुन्दर, लाल-सुर्ख दिखाई देते थे।

नूरमहम्मद की यह क्रूरता भाई अब्दुल्ला से सहन न हुई। भाई अब्दुला सिन्ध की ओर के एक संस्कारी कुटुंब के युवक थे। उन्होंने चिढ़कर कहा—'खिलाफत के लिए तुम बहादुर बनकर फाँसी पर चढ़ने के लिए तैयार हो; और अपने बच्चों की रक्षा की खातिर चोंच मारनेवाली कौवी की चोटों से कायर बन गये और बच्चों का घोंसला तोड़ डाला ? खुदा तुम पर कितना नाराज होगा।' बेचारा नूरमहम्मद खिसिया गया और शामल भाई को आश्चर्य हुआ कि मांसाहारी मुसलमान में भी इतनी दया ! अन्त में नूरमहम्मद ने पठान की आज्ञा लेकर हमारे आँगन के बाहर वाले दूसरे नीम पर वह घोंसला रख दिया। पर वह वहाँ टिक नहीं सका, इसलिए फिर उसे पहले-वाले स्थान पर ही जमाकर रखना पड़ा।

कौवी को अब अपने बच्चों के खान-पान की चिंता हुई। अतः उसने अपनी काक-दृष्टि को अधिक तीव्र करके आहार ढूँढ़ना आरंभ किया। गिलहरी के बच्चे भी अब बड़े होकर इधर-उधर घूमने-फिरने लगे थे। कौवी ने उनमें से एक बच्चे को मारकर अपने पुत्र को पहली बार मांस का आस्वादन कराया। उसी दिन से गिल-हरियों और कौवों के बीच में शत्रुता पैदा हो गई। कौवे छत पर बैठे होते या नीम पर, एकाध बड़ी गिलहरी अपनी पूँछ फुलाकर कौवों पर धावा बोलती और कौवे के भयभीत होकर उड़ जाने के पहले ही उसे अपने नाखूनों और दाँत का मजा चखा देती। कौवे गिलहरी से डरते हैं, यह तो मैंने यहीं पहली बार देखा। किन्तु कौवा हवा में उड़ सकता है और गिलहरी नहीं उड़ सकती, इसलिए यह युद्ध अँगरेजों और अरब के युद्ध जैसा ही हो जाता था। यदि अरबों के पास

हवाई जहाज होते और गिलहरियों के पाँखें होतीं, तो ये दोनों महा-युद्ध कुछ दूसरा ही रूप धारण करते।

एक दिन एक कौवा कहीं से गिलहरी का बच्चा मारकर मेरी कँडी में भिगोने के लिए ले आया। चिढ़कर मैंने पानी उलट दिया और कूँडी को औंधा रख दिया। फिर विचार किया, दयाधर्म में इन्साफ़ कैसा? इन्साफ तो एक खुदा ही कर सकता है। वह रहीम भी है और कहार भी*। मेरा काम तो प्यासे को पानी पिलाना है। कौवा अपना आहार ढूँढ़ लेता है, इससे मैं उसको सजा क्यों दूँ? यदि मेरे देखते-देखते वह गिलहरी को मारे, तो मैं उसके प्राण बचाने का प्रयत्न अवश्य करूँगा। कारण, वैसा न करने से मेरी दयावृत्ति दुखित होगी। किन्तु मेरा कौवे पर क्रोध करना उचित नहीं है। गिलहरी को मारते समय उसके मन में गिलहरी के प्रति द्वेष अथवा बैर होता है या अपने भूखे बच्चे की वात्सल्य-भरी चिंता, इसका निश्चय कौन करे? मेरी माँ जब पेड़ से आम तोड़कर खाने के लिए मुझे देती थी, तब उसके विचार क्या इस कौवे के विचारों से भिन्न होंगे? पर-दुःख का विचार केवल मनुष्य का ही अधिकार है। अन्य प्राणी तो क्वचित् ही यह वृत्ति पैदा कर पाते हैं। पशु-पक्षियों का जीवन नीतिबाह्य होने के कारण उसमें नीति-अनीति का उद्भव ही नहीं होता। मनुष्य भी अभी अधिकांश में पशु ही है। इसी लिए पर-दुःख से उसका हृदय नहीं पसीजता। यह कहा जाता है कि मनुष्यों में भी स्त्रियाँ अपने बाल-बच्चों तथा सगे-सम्बन्धियों के प्रति प्रेमवृत्ति का असाधारण उत्कर्ष बताने पर भी दूसरे के दुःख के प्रति उदासीन ही रहती हैं। और स्त्री-स्त्री के दुःख को देखकर कई बार प्रसन्न भी होती है। यह बात कहाँ तक सत्य है और कहाँ तक झूठा दोषारोपण, इसे तो स्त्रियाँ ही बतला सकती हैं। इतना सच है कि मनुष्येतर सृष्टि में नर की अपेक्षा मादा का जोश और जुनून अधिक होता है। जंगली असंस्कारी लोगों में भी ऐसा ही होता है।

× × ×

---

*रहीम यानी दयावान और कहार यानी कहर बरपा करनेवाला।

एक रात को जोरों से हवा चली। कौवे का घोंसला नीचे आ गिरा और एक बच्चा मर गया। नूरमहम्मद ने घोंसले को तथा बचे हुए बच्चों को फिर से नीम पर जमा दिया, परन्तु एक-दो दिन में उनका भी अन्त हो गया। झाड़ूवाले ने बच्चों को दीवार के बाहर फेंक दिया। वहाँ कौवों की जमात इकट्ठी हुई और उन्होंने रुदन किया। अनेकों बूढ़े कौवों ने मरसिये (शोक-गीत) गाए। माँ कौवी तो अवाक् होकर बैठ ही गई थी। अन्त में जब भारी वर्षा हुई, तो लाचार होकर जमात उड़ गई। किन्तु तीन-चार कौवों के दुःख का आवेग इतना भारी था कि बरसात में उड़ जाने का भान भी उनको नहीं रहा। कौवों को निःसंतान हुआ देखकर गिलहरियाँ प्रसन्न हुई या नहीं, यह हम कैसे कह सकते हैं? ईर्ष्या, मत्सर और पर-दुःख देखकर आनन्दित होने की वृत्तियाँ कदाचित् सुधरे हुए प्राणियों के दुर्गुण होंगे। बच्चों के मर जाने से कौवे भी जरा ढीले हो गए। हमको अखरनेवाला कौवों का अंतिम शिकार तो हमारी टट्टी पर रहनेवाली एक चिड़िया के बच्चे का था।

अभ्यास

१—निम्नलिखित वाक्यों में जो विद्रूप है, वह कौन-सा अलंकार कहलाता है :—

(अ) 'अहिंसा की छूत लग जाने से इस कनखजूरे को मारने की इच्छा नहीं हुई।'

(ब) 'महात्माजी का शिष्य तो ऐसा ही ढीला होता है?'

(स) 'कनखजूरा कान में जाकर कान को खा जाय, तो सरकार के बाबा का क्या जाता है?'

२—लेखक ने कौवे और गिलहरी के संबंध में जो संस्करण अंकित किए हैं, उन्हें पढ़कर आपके मन में किस भावना का उदय हुआ और क्यों?

३—अर्थ स्पष्ट कीजिए:—

'मनुष्य भी अभी अधिकांश में पशु ही है। इसलिए पर-दुःख से उसका हृदय नहीं पसीजता।'

४—समास-विग्रह कीजिए और उनके भेद बतलाइए :—

आनन्दोद्गार, कनपट्टी, मनुष्येतर, चंचु-प्रसाद।

२१—एकाकी तारा

श्री 'अज्ञेय'

[बहुमुखी प्रतिभा से हिन्दी साहित्य का भण्डार भरनेवाले कलाकार श्री सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय' का जन्म सन् १९०९ में हुआ था। कहानी, उपन्यास, काव्य और आलोचना—सभी क्षेत्रों में आपकी समान गति है। 'विशाल भारत' और 'प्रतीक' के आप सम्पादक रह चुके हैं।

परम्परा, कोठरी की बात आदि आपके कहानी-संग्रह हैं। 'शेखर—एक जीवनी' और 'नदी के द्वीप' आपके प्रसिद्ध उपन्यास हैं। कई कविता-संग्रह भी आपके प्रकाशित हो चुके हैं।

देश की विभिन्न परिस्थितियों और सामाजिक आन्दोलनों से भी आपकी रचनाएँ प्रभावित हैं। आपकी भाषा संस्कृतनिष्ठ और प्रवहमान है। शैली मौलिक और आकर्षक है।]

ऐसा भी सूर्यास्त कहाँ होगा? उस पहाड़ की आड़ में से सूर्य का थोड़ा-सा अंश दीख पड़ रहा है, और उसके ऊपर आकाश में बहुत दूर तक फैली हुई एक लम्बी वारिदमाला लाल-लाल दीख रही है, मानो प्रकृति ने बालों की लाल-लाल लटें.....। या जैसे सूर्य को फाँसी पर लटका दिया हो, और किसी अज्ञात कारण से फांसा की रस्सी खून से रँगी गई हो। प्रतीची की विशाल कोख भी तो मानो सूर्य को लीले जा रही हो।

सूर्यास्त हो गया है; पर वह स्त्री—या युवती—उसी प्रकार निश्चल खड़ी स्थिर दृष्टि से पश्चिमीय आकाश को देख रही है। आसपास के सुरम्य दृश्यों की ओर, सामने बहती हुई छोटी-सी पहाड़ी नदी के स्वच्छ अन्तर की ओर, सामनेवाले पहाड़ की तलेटी से आती हुई बीन की अत्यन्त कम्पित, क्षीण ध्वनि की ओर, उसका ध्यान नहीं जाता। वह अत्यन्त एकाग्र हो, समाधिस्थ हो, पश्चिम आकाश को देख रही है, मानो इसी पर उसका जीवन निर्भर करता है, मानो वह आकाश में बिखरे हुए रक्त को पीकर शक्ति प्राप्त करना चाहती है; किन्तु संजीवन न पाकर विष ही पाती है, फिर भी छोड़ नहीं सकती, मूर्च्छित भी नहीं होती।

सान्ध्य आकाश में थोथे सौन्दर्य के अतिरिक्त कुछ नहीं होता; किन्तु जो अपने हृदयों में ही एक काल्पनिक संसार बसाए हुए उसे देखने आते हैं, जिनके अन्दर थिरकती हुई, किन्तु अस्फुट, प्रसन्नता होती है, या भीतर-ही-भीतर किसी गहरी वेदना से झुलस रहे होते हैं, उनकी तीखी अनुभूतियाँ उस आकाश में अपने सारे अरमानों का प्रतिबिम्ब पा लेती हैं, उनके लिए संसार की सम्पूर्ण विभूतियाँ, कोमलतम भावनाएँ, उसमें केन्द्रित हो जाती हैं—उस प्रदोष के आकाश में।

वह देख रही है, और देखती जाती है। इस दृश्य को उसने सैकड़ों बार देखा है, उन दिनों में भी, जब उसमें उस थोथे सौन्दर्य के अतिरिक्त कुछ न था (उसके जीवन में भी ऐसे दिन थे—वह जो आज समझती है कि उस पर काल का बोझ अनगिनत वर्षों से पड़ा हुआ है !) और उन दिनों में भी, जब कि वह उसमें संसार को समग्र व्यथा और वेदना का प्रतिबिम्ब देख पाई है; पर वेदना का चिन्तन भी मदिरा की तरह है, ज्यों-ज्यों उन्माद बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों उसकी लालसा तीखी होती जाती है।

वह उस उन्माद के पथ पर बहुत दूर अग्रसर हो गई है। एक परदा उसकी आँखों के आगे छा गया है, और एक सूर्यास्त के छाया-पट के आगे। पर इन तीनों पटों की आड़ से भी उसकी तीव्र दृष्टि आकारों को भेदती हुई चली जा रही है; वह देख रही है। पढ़ रही है जीवन के नग्न सत्यों को।

इस भीषण शिक्षा से चौंककर कभी-कभी उसकी दृष्टि एक दूसरी ओर फिरती है—उसके हाथ की ओर, जिसमें वह एक छोटा-सा पुर्जा थामे हुए है। वह पढ़ना नहीं जानती; पर आह ! कितनी तीव्र वेदना से, कितनी मर्मभेदी उग्रता से, वह उस पुर्जे पर लिखी हुई दो-चार पंक्तियों को देखती है, मानो उसके नेत्रों की ज्वाला से ही पत्र का आशय जगमगाकर उसके हृदय में समा जायगा।

वह पढ़ना नहीं जानती; परन्तु पत्र में क्या है, वह पढ़वाकर सुन आई है—'भाई की तारीख परसों की लगी है—रात के नौ बजे ...' बस इतना ही तो लिखा है।

आज ही वह परसों है—आज ही रात को तो वह नौ बजेंगे।

और फिर वह पहले की भाँति सूर्यास्त से वही शिक्षा ग्रहण करने लग जाती है।

वह है कौन ?

अपना नाम वह स्वयं नहीं जानती। जब वह बहुत छोटी थी, तब शायद उसके माता-पिता ने उसका नाम रखा था। पर जब से वह अनाथिनी हुई, जब से अपने भाई के साथ वह घर से निकलकर भीख माँगने लगी, जब एक दिन उसके भाई ने उसे शक्कर के नाम से नमक की एक फाँकी खिला दी, और उसकी मुखाकृति देख हँस-हँसकर उसे चिढ़ाने लगा—'लूनी !' 'लूनी !' तब से वह अपना नाम लूनी ही जानती है।

जाने कैसे वे भीख माँगते-माँगते शहरों में पहुँच गये थे ? पर पहाड़ों और जंगलों में रहनेवाले वे उन्मुक्त प्राणी वहाँ के वातावरण को नहीं सह सके। कुछ ही दिनों बाद भाई-बहिन दोनों फिर पहाड़ों में लौट आये और गूजरों के यहाँ चरवाहे बनकर रोटी का गुजारा करने लगे। लूनी दिन-भर ढोर चराया करती, और उसका भाई एक चट्टान पर बैठकर गाया करता, या कभी-कभी कुछ पढ़ा करता। लूनी नहीं जानती कि वह पढ़ना कब और कहाँ सीख गया, कैसे सीख गया। कभी-कभी वह सबेरे नींद खुलने पर देखती कि उसके भाई का पता नहीं है—वह दो-तीन दिन तक गायब रहता, फिर कुछ नई किताबें लेकर लौट आता। पहली बार जब वह लापता हुआ, तब लूनी कितनी घबरा गई थी, पागल हो गई थी; इतनी कि जब वह लौटकर आया, तब उसे उलहना भी न दे पाई, उसे लज्जित-सा देखकर उससे चिपट गई थी और खूब रोई थी।

अब वह भाई लौटकर नहीं आयेगा—अब उससे लिपटकर रोने का भी सौभाग्य लूनी को नहीं प्राप्त होगा।

उसके बाद कितने दिन बीत गये थे ! लूनी का भाई उसे अधिकाधिक प्रेम करता जाता था—पर साथ-ही-साथ दूर भी हटता जा रहा था; क्योंकि उसमें वह स्वयंभूति का भाव कम होता जा रहा था, और उसमें एक गम्भीर विचारवान् सचेष्ट स्निग्धता आती जा रही थी। लूनी उसे समझती थी और नहीं समझती थी; उसका स्वागत करती थी और उससे खीझती थी।

दूर हटते-हटते एक दिन वह उसके पास से बिलकुल चला गया—दिनों के लिए नहीं, वर्षों के लिए।

और जब वह लौटकर आया, तब लूनी नहीं रही थी, या स्मृति-भर रह गई थी। वह एक सम्पन्न गूजर के घर बैठ गई थी। वह उसकी विवाहिता भी नहीं थी, उसकी रखैल भी नहीं थी। लूनी ने अपने-आपको मानों उसे दान कर दिया था, उसे अपना दान देकर उसे विदा कर दिया था और स्वयं अकेली रह गई थी। कभी-कभी जब वह स्वयं अपनी परिस्थिति पर विचार करती, तब उसे जान पड़ता, उसके दो शरीर हैं, जो एक-दूसरे के ऊपर खड़े हैं। एक में उसकी सम्पूर्ण आत्मा, उसका अपनापन, बसा हुआ है, और लूनी के भाई की आराधना में लीन है, और दूसरा, निचला, केवल एक लाश-भर है। कभी-कभी दुरुपयोग से या शारीरिक अत्याचार से पीड़ित होकर यह लाश ऊपर की आत्मा के पास फरियाद करती थी, तो उसमें एक क्षीण व्यथा-सी जागती थी, और कोई उत्तर नहीं मिलता था...जैसे कोई दान दी हुई गाय का कष्ट देखकर यही सोचकर रह जाता है कि अब मुझे इसके कष्ट-निवारण करने का अधिकार नहीं रहा।

जब वह भाई लौटकर आया, तब लूनी उसे अपने पास ठहराती तो क्या, उसके सामने भी नहीं हो सकी। वह चुपचाप चला गया। परिस्थिति देखकर वह लूनी की मनःस्थिति भी समझ गया था। दूसरे दिन जब लूनी अवसर पाकर अपने पुराने आसन पर—उसी चट्टान पर, जहाँ वह आज बैठी है—गई, तब उसका भाई वहाँ बैठा उसकी प्रतीक्षा कर रहा था। लूनी के हृदय के किसी अज्ञात कोने में यह भाव जागृत हुआ कि अब भी कोई उसे अपना समझता है, और इसी भाव से स्तिमित होकर उसने अपना सिर भाई की गोद में रख दिया, रो भी नहीं पाई, पड़ी रह गई। भाई ने भी उसे पुकारा नहीं; थोड़ी देर चुप रहकर फिर धीरे-धीरे गाने लगा। उस गाने का प्रवाह अर्थ के बोझ से मुक्त था, इसलिए वह लूनी के सारे मनोमालिन्य को बहा ले गया। जब उसने पुनः जागृत होकर अपनी कथा कह देने को सिर उठाया, तब कथा कहने की आवश्यकता ही नहीं रह गई थी! उसका भाई ही, न जाने क्या-क्या अनोखे विचार उसे सुना

गया था, जो उसने समझे नहीं, जो उसे याद ही नहीं रहे; किन्तु जिनकी छाया उसकी स्मृति के परदे के पीछे कहीं सदा नाचती रहती है।

आज वह चट्टान पर बैठी यही सब सोच रही है, और सूर्यास्त के छायापट पर से परे देख रही है।

क्या देख रही है? उसी भाई की आज तारीख पड़ी है, उसी भाई को रात के नौ बजे फाँसी होगी।

अंधेरा हो गया है। तलेटी में, चीड़ वृक्षों के झुरमुट में छिपे हुए छोटे-से गाँव में कहीं आठ लड़के हैं। उस प्रशान्त वातावरण में इतनी दूर का स्वर स्पष्ट सुन पड़ता है। लूनी के सामने पहाड़ की चोटी के पास सान्ध्य तारा अकेला जगमगा रहा है। ज्यों-ज्यों आकाश में इधर-उधर तारे प्रकट होते जा रहे हैं, वह भी अधिकाधिक प्रोज्ज्वल होता जा रहा है, मानो अपने एकछत्र राजत्व में विघ्न होते देखकर उत्तेजित हो रहा हो, और लूनी जिस एक घटना पर चिन्तन करने आई है, उसे सोच नहीं पाती; उसका मन निरन्तर उससे भिन्न विषयों की ओर झुकता है, और उन्हीं पर जमने का प्रयत्न करता है। वह तारों की प्रतिस्पर्द्धा देखकर उसी में अपने को भुला रही है—भुलाने का प्रयत्न कर रही है।

उसका जीवन भी एक अनन्त प्रतिस्पर्द्धा ही कर रहा है—एक प्रतियोगिता, जिसमें वह अकेली ही रही है। और वह सान्ध्य तारे को देखकर सोच रही है कि इस द्वन्द्वपूर्ण संसार में भी मैं कितनी सुखी रही हूँ! प्रकृति में लड़ाई-ही-लड़ाई, संहार-ही-संहार है; किन्तु वह कितनी निर्मल है—उस पर कैसी विराट् नैसर्गिक भव्यता छाई हुई है, जिसके सौन्दर्य में हम सुखी हो सकते हैं। मैं अपने इस संसार में कितनी सुखी थी—इस छोटे-से संसार में, जो उसी साम्राज्य का एक अंश है, जिसके विरुद्ध मेरा भाई लड़ता है, जिसके विनाश पर वह तुला हुआ है। वह क्यों लड़ता है? क्यों सुखी नहीं हो सकता? इसमें उसका दोष है या राज्य का? यह उसकी प्रकृति की मानसिक विरोधता है, या राजत्व में अन्तर्हित कोई प्रगूढ़ न्यूनता? यदि लोगों की आत्मा अपने को सौन्दर्य से घिरा पाकर

भी सुखी नहीं होती, केवल इसलिए कि उनके शरीर पर अपर शक्ति का बन्धन—राज्य—है, तो वह उनकी कमी है, या उनके ऊपर राजत्व की ?

यह आकाश के तारों की जो असंख्य टिमटिमाहट है, वह क्या अपने अस्तित्व का उन्मत्त उल्लास है, या विद्रोह की जलन ? शायद दोनों !

लूनी को याद आया, यही एक दिन उसके भाई ने कहा था। उसकी स्मृति के पीछे जिन वचनों की छाया चिरकाल से नाच रही थी, जिन शब्दों का अभिप्राय वह अभी तक नहीं समझ पाई थी, वे एकाएक सामने आ गए, उसकी समझ में समा गए। उसके भाई ने कहा था—सुख या दुःख ऐसे नहीं होते। राज्य—बाह्य नियन्त्रण—सुख भी नहीं देता, दुःख भी नहीं देता। इन दोनों का उद्भव मनुष्य के भीतर छिपी किन्हीं आन्तरिक शक्तियों से होता है। राज्य तो केवल एक शक्ति का ज्ञान देता है, एक भावना को जगाता है, एक उत्तरदायित्व की संज्ञा को चेता देता है; फिर वह दायित्व राज्य के संघटन में पूर्ण होता है, या उसके विरोध में, इसका निर्णय करनेवाली परिस्थितियाँ राज्य के नियन्त्रण में न कभी आई हैं, न आयेंगी। मुझ में—हम में—वह दायित्व जागा है; पर उसे चुकाने के लिए हमारे पास साधन नहीं, उसके पोषण के लिए सामग्री नहीं, इसी लिए हम दुखी और अशान्त हैं, इसी लिए लड़ते हैं और लड़ना चाहते हैं।

ये निर्णय करनेवाली शक्तियाँ क्या हैं ? क्या उसके हृदय में स्वार्थ था, जिसके लिए वह लड़ा ? जिसके लिए वह आज प्राणदण्ड का भागी हुआ ?

ऐसे खिंचाव के समय इस घोर एकान्त ने लूनी को उद्भ्रान्त कर दिया था—या शायद उसकी सूक्ष्म बुद्धि को और भी पैना कर दिया था। सूर्यास्त के पट पर उसने देखा, उसके भाई के कार्यों का एक प्रमुख कारण वह स्वयं थी ! उसके भाई के आदर्शों का एक स्रोत उसके लिए सुख-कामना थी ! क्यों ? क्या वह ऐसे विद्रोह द्वारा सुख प्राप्त करना चाहती थी—प्राप्त कर सकती थी ? क्या भाई को खोकर उसे सुख मिलेगा ? नहीं, पर उसके भाई ने जो कुछ देखा,

वह उसके दृष्टिकोण से नहीं, अपने दृष्टिकोण से देखा—या शायद देखा ही नहीं, केवल एक चिरन्तन सहजज्ञान के कारण अनुभव किया, ऐसे सहज ज्ञान के कारण, जो उसकी वसीयत में अत्यन्त प्राचीन काल से था—उस समय से जब कि पृथ्वी पर मानव जाति का अस्तित्व ही न था, उसके पुरखा वनमानुषों का भी नहीं, जब विवाह में जाति और वर्ण-विभेद न थे, जब 'पति-पत्नी' और 'भाई-बहिन' एक ही स्वरक्षात्मक आर्थिक क्रिया की दो कलाएँ थीं।

लूनी ने यह सब अपनी बुद्धि से नहीं, एक स्वाभाविक चेतना से ही अनुभव किया, और यह अनुभव उसके बौद्धिक क्षेत्र से नहीं आ पाया। उसकी बुद्धि केवल एक ही निरर्थक-सी बात कहकर रह गई—'वह विद्रोही है।' कुछ एक दिनों के बौद्धिक शासन के इस निर्णय के आगे उसकी चिरन्तन अराजकता से उत्पन्न वह पहली अनुभूति व्यक्त न हो पाई।

'वह विद्रोही है, और कुछ काल में वह मूर्तिमान विद्रोह होकर मर जायगा।'

लूनी अपनी थकी हुई, झुकी हुई, गर्दन उठाकर आकाश की ओर देखने लगी। उसकी प्रगाढ़ नीलिमा को लाँघनेवाली आकाश-गंगा का धुँधलापन भी चमक रहा था। यह आकाश-गंगा है, या प्रकृति के उत्तप्त आँसू-भरे हृदय की भाप, या विश्व-पुरुष के गले में फाँसी!

रात! तारे—तारे—तारे! लूनी के मन में एक विचार उठा, मैं इन्हें देख रही हूँ, वह भी एक बार तो इन्हें देख ही लेगा, और पहाड़ों की याद कर लेगा। तारे क्षण-भर झपक लेंगे, जब जागेंगे, तब मैं इन्हें अपलक ही देख रही हूँगी; पर वह?

एक हलकी-सी चीख या गहरी-सी साँस...

लूनी के मन की दशा इस समय ऐसी विकृत हो रही थी कि इस अशान्तिमय विचार के बीच ही में उसे अपनी छोटी-सी लड़की, नहीं, उस सम्पन्न गूजर और लूनी की लाश की सन्तान, की याद आ गई, और साथ ही उसके पिता की। वे शायद इस समय उसे खोज रहे होंगे। बेटी अनुभव कर रही होगी, आज मुझे वह पागल प्यार देनेवाली कहाँ है? और पिता सोच रहा होगा, उसका दिमाग कुछ

खराब हो रहा है, वक्त-बे-वक्त जंगलों में फिरती है ! जब लूनी वापस पहुँचेगी—पर लूनी तो वहीं रहेगी, वापस तो उसकी लोथ ही जायगी !—तब पिता उसकी विवशता पर अपनी भूख मिटायेगा, और बेटी अपनी विवशता के कारण भूखी रह जायगी, और—और वह, जिसके लिए लूनी आज इस चट्टान पर बैठी है, वह मर जायगा।

लूनी फिर सांध्य तारों की ओर देखने लगी, फिर उसका मन भागा—वर्त्तमान के विचार से दूर, भूत काल की ओर ! उस दिन की ओर, जब वे शहर में भीख माँगते-माँगते उकताकर, शहर के अन्तिम प्रदेश में आकर किसी साल के या युकलिप्टस के वृक्ष के नीचे आ पड़ते, और पेड़ की पत्तियों में अपने परिचित वनों की सृष्टि किया करते; उस दिन की ओर, जब वे एकाएक मूक संकेत में ही एक-दूसरे के हृदय की प्यास को समझकर, एक दूसरे का हाथ थामे शहर से निकल पड़े, अपने पहाड़ों के पथ पर; उस दिन की ओर, जब न-जाने कहाँ से पकड़कर उसका भाई एक जल-मुर्गाबी लाया, और लूनी का करुण अनुरोध 'इसे छोड़ दो' सुनकर क्षण-भर विस्मित रह गया, और फिर उसे उड़ाकर धीरे-धीरे हँसने लगा; उस दिन की ओर, जब न-जाने कैसे दोनों को एकाएक अपने पुरुषत्व और स्त्रीत्व का ज्ञान हुआ, दोनों अपने अकेलेपन का अनुभव करके जोर से चिपटकर गले मिले, और फिर लज्जित-से होकर अलग हो गये; उस दिन की ओर, जब भाई ने उल्लास भरे स्वर में कहा—'देख लूनी, मैं कविता लिखकर लाया हूँ,' और उसके विस्मित प्रश्न का उत्तर दिये बिना ही गाने लग गया; उस दिन की ओर, जब उसने कहा—'लूनी, अब मैं बहुत पढ़ गया हूँ, अब मैं तुम्हें सुखी करने के लिए लड़ूँगा,' और रात को लापता हो गया; इतने बरसों के बाद के उस दिन की ओर, जब कि उसके 'पति' ने उसे एक पत्र लाकर दिया और उपेक्षा से पूछा—'तेरा कोई भाई भी है ? उसी का है।' और उसके पूछने पर कि पत्र में क्या है, इतना-भर बता दिया कि वह आयेगा; उस दिन की लज्जा और ग्लानि की ओर, जिस दिन वह अपने भाई के सामने नहीं हो सकी, और वह बाहर ही से लौटकर चला गया; उस दिन की ओर, जब वह चट्टान पर उसकी गोद में

सिर रखकर बरसों से जोड़ी हुई कलुषा धो आई; उस दिन की ओर, जब वह फिर विदा लेकर चला गया, लूनी को सुखी करने के लिए; उस भयंकर दिन की ओर, जिसमें लूनी से किसी ने कहा कि उसका भाई पकड़ा गया है, और यह नहीं बता सका कि कहाँ और किस जुर्म में; उस दिन की ओर, जब कि उसका घोर अनिश्चय दूर करने को यह समाचार आया है कि भाई को प्राणदण्ड की आज्ञा हुई है; उस दिन की ओर, जब उसे भाई का अपने हाथों लिखा पत्र आया, जिसे उसने कई बार पढ़ाकर सुना और कंठस्थ करके भी पूरा समझ न पाई, और अन्त में, वामन अवतार के पग की तरह, सम्पूर्ण सृष्टि को रौंदकर, उसके हृदय के कोमलतम अंश पर, जहाँ उसने भाई के जीवन की स्मृति को छिपा रखा था—उसी जीवन की, जो कि अभी थोड़ी देर में नष्ट हो जायगा और अपनी स्मृतियों को बिखेर जायगा, जिसका स्थान शीघ्र ही अनझरे आँसू ले लेंगे।

लूनी की दृष्टि एक बार चारों ओर घूमकर, लूनी के आस-पास बिखरी हुई विभिन्न फूलों की रूपराशि और भीनी गन्ध को, नदी पर थिरकते हुए धुँधले-से आलोक को, तलेटी के चीड़ वृक्षों से उठती हुई अज्ञात साँसों को, सामने के पहाड़ पर काँपती हुई बोन की तान को और पहाड़ की स्निग्ध श्यामता को पी गई, फिर एक अव्यक्त प्रश्न से भरी हुई वह दृष्टि उठी सान्ध्य तारे की ओर। उसका वह अव्यक्त प्रश्न एक थरथराती हुई प्रतीक्षा-सा बन गया।

आकाश में दो बड़े-बड़े सफेद आकार चले जा रहे थे—शायद बगुले...पर इनके पर कितने बड़े-बड़े जान पड़ते हैं, जैसे सारस के हों।

और उनकी गति कितनी प्रशान्त, मानो मृत्यु की तरह, मानो जीवन के अवसान की तरह निःशब्द।

नीचे गाँव में से कहीं घंटा खड़कने की ध्वनि आई। लूनी तनकर बैठ गई, उसकी ऐन्द्रिक चेतना अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गई; किन्तु साथ ही उनके आगे, लूनी के शरीर-भर में अँधेरा भर गया.....

तलेटी में कहीं चौंककर, फटी हुई वेदना के स्वर में टिटिहरी रोई—'चीन्हूँ ! चीन्हूँ !' मानो अपने घोंसले पर काँपती हुई अज्ञात

छाया को देखकर, एकाएक भयभीत वात्सल्य और स्वरक्षात्मक साहस से भरकर तड़प उठी हो, और उस छाया को ललकार रही हो।

लूनी की आत्मा और उसका शरीर ढीला होकर झुक गया। उसे जान पड़ा, एक निराकार छाया उसके पास खड़ी है और उसे स्पर्श कर रही है—उसे जान पड़ा, वहाँ कुछ नहीं है, वह अकेली हो गई है, लुट गई है, क्वाँरी ही विधवा हो गई है।

उसने देखा, शून्य में आकाश-गंगा—विश्व-पुरुष के गले की फाँसी—को छूती हुई अकेली पताका ही उसकी सहचरी रह गई है।

अभ्यास

१—कथाकार ने लूनी का जो अन्तर्द्वन्द्व चित्रित किया है, उसके आधार पर लूनी का चरित्र-चित्रण कीजिए।

२—आशय स्पष्ट कीजिए :—

उसे जान पड़ा, वहाँ कुछ नहीं है, वह अकेली हो गई है, क्वाँरी ही विधवा हो गई।

३—समास बतलाइए :—

छायापट, मनोमालिन्य, प्रतिस्पर्द्धा।

४—इस कहानी में प्रयुक्त अलंकारों को छाँटकर उनके भेद बतलाइए।

५—सन्धि-विच्छेद कीजिए और नियम बतलाइए :—

निरन्तर, सूर्यास्त, निरर्थक, उद्भ्रान्त।

२२—यमुना की शोभा

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

[भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का जन्म-संवत् १९०७ और मृत्यु-संवत् १९४२ है। आप काशी-निवासी थे।

कवि के रूप में आपका स्थान हिन्दी काव्यजगत् में बहुत ही ऊँचा है। आप आशु-कवि थे। बातें करते जाते थे और कविता रचते जाते थे। आपने लौकिक और अलौकिक दोनों प्रकार के प्रेम का श्रेष्ठ वर्णन किया है। अलंकारों की छटा इनकी कविताओं में दर्शनीय है।



गद्य-पद्य दोनों में आपको समानाधिकार था। कविता के लिए आपने ब्रज-भाषा तथा गद्य के लिए खड़ी बोली को माध्यम बनाया। आप शुद्ध हिन्दी के पक्षपाती थे और उसके रूप-निर्धारण में आपका बड़ा हाथ रहा। आपकी भाषा में माधुर्य सर्वत्र ओतप्रोत है।

हिन्दी साहित्य में देशप्रेम का बीजारोपण करने का गौरव आपको ही प्राप्त है। 'भारत-दुर्दशा' नाटक की रचना का ध्येय ही भारतीय प्राचीन गौरव के सहारे देशाभिमान प्रकट करना था।

आपकी कृतियों में प्रेममाधुरी, प्रेम-फुलवारी, प्रेम-तरंग आदि ख्याति-प्राप्त काव्यग्रंथ हैं।]

तरनि - तनूजा - तट - तमाल - तरुवर बहु छाये।
झुके कूल सों जल-परसन-हित मनहु सुहाये॥
किधौं मुकुर में लखत उझकि सब निज-निज सोभा।
कै प्रनवत जल जानि परम पावन फल लोभा॥
मनु आतप-बारन तीर को, सिमिट सबै छाए रहत।
कै हरि सेवा-हित नै रहे, निरखि नैन-मन सुख लहत॥१॥
कहूँ तीर पर कमल अमल सोभित बहु भाँतिन।
कहुँ सैवालन मध्य कुमदनी खगि रहि पाँतिन॥

मनु दृग धारि अनेक जमुन निरखन-ब्रज सोभा।
कै उमँगे प्रिय-प्रिया-प्रेम के अनगिन गोभा॥
कै करिकै कर बहु पोय को, टेरत निज ढिग सोहई।
कै पूजन को उपचार लै, चलति मिलन मन मोहई॥२॥

कै पिय-पद उपमान जानि एहि निज उर धारत।
कै मुख करि बहु भृंगन मिस अस्तुति उच्चारत॥
कै ब्रज-तिय-गन-बदन कमल की झलकत झाईं?
कै ब्रज हरि-पद-परस हेत कमला बहु आईं॥
कै सात्विक अरु अनुराग दोउ, ब्रज मंडल बगरे फिरत।
कै जानि लक्ष्मी-भौन यहि, करि सतधा निज जल धरत॥३॥

तिनपै जेहि छन चंद-जोति राका निसि आवति।
जल में मिलि कै नभ अवनी लौं तान तनावति॥
होत मुकुरमय सबै तबै उज्जल जल ओभा।
तन-मन-नैन जुड़ात देखि सुन्दर सो सोभा॥
सो को कवि जो छबि कहि सकै, ता छन जमुना नीर की।
मिलि अवनि और अंबर रहति, छबि इक-सी नभ तीर की॥४॥

परत चन्द्र-प्रतिबिंब कहूँ जल-मधि चमकायो।
लोल-लहर-लहि नवत कबहुं सोई मन भायो॥
मनु हरि-दरसन-हेत चंद जल बसत सुहायो।
कै तरंग-कर मुकुर लिए सोभित छबि छायो॥
कै राम रमन में हरि-मुकुट-आभा जल दिखरात है।
कै जल-उर हरि मूरति बसति, ता प्रतिबिंब लखात है॥५॥

कबहुँ होत सत चंद, कबहुँ प्रगटत, दुरि भाजत।
पवन-गवन बस बिंब-रूप जल में बहु साजत॥
मनु ससि भरि अनुराग जमुन-जल लोटत डोलै।
कै तरंग की डोर हिंडोरन करत कलोलै॥
कै बाल-गुड़ी नभ में उड़ी, सोहत इत-उत धावती।
कै अवगाहत-डोलत कोऊ, ब्रज-रमनी जल आवती॥६॥

मनु जुग पच्छ प्रतच्छ होत मिटि जात जमुन-जल।
कै तारागन ठगत, लुकत, प्रगटत ससि अविकल॥

कै कालिंदी - नीर तरंग जितो उपजावत।
तितनो ही धरि रूप मिलन हित तासों धावत॥
कै बहुत रजत चकई चलत, कै फुहार जल उच्छरत।
कै निसि-पति मल्ल अनेक विधि, उठि बैठत, कसरत करत॥७॥
कूजत कहुँ कलहंस, कहूँ मज्जत पारावत।
कहुँ कारण्डव उड़त, कहूँ जल-कुक्कुट धावत॥
चक्रवाक कहुँ बसत, कहूँ बक ध्यान लगावत।
सुक-पिक जल कहुँ पियत, कहूँ भ्रमरावलि गावत॥
कहुँ तट पर नाचत मोर बहु, रोर विविध पच्छी करत।
जल-पान-न्हान करि सुख-भरे, तट-सोभा सब जिय धरत॥८॥
कहूँ बालुका बिमल सकल कोमल बहु छाई।
उज्ज्वल झलकत, रजत सीढ़ि मनु सरस सुहाई॥
पिय के आगम हेत पाँवड़े मनहुँ बिछाए।
रतन-रासि करि चूर कूल में मनु बगराए॥
मनु मुक्त-माँग सोभति भरी, स्याम-नीर चिकुरन परसि।
सतगुन छायो कै नीर में, ब्रज-निवास लखि हिय हरसि॥९॥

अभ्यास

१—यमुना की शोभा का वर्णन अपने शब्दों में कीजिए।

२—इस कविता की पहली पंक्ति में कौन-सा अलंकार है?

३—उपमा अलंकार किसे कहते हैं? इस कविता में से उपमा अलंकार के कुछ उदाहरण छाँटिए।

४—यमुना के जल में चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब कैसा प्रतीत होता है?

५—अगर किसी अन्य प्रसिद्ध सरिता पर आपने कोई कविता पढ़ी हो, तो उससे इस कविता की तुलना कीजिए।

६—निम्नलिखित शब्दों के तत्सम लिखिए :—
सोभा, निसि, पच्छी, छन।

२३—कर्त्तव्य और सत्यता

डॉ० श्यामसुन्दरदास

[डॉ० श्यामसुन्दरदास का जन्म बनारस में सन् १८७५ ई० में हुआ था। आप काशी नागरी प्रचारिणी सभा के संस्थापक हैं। १८९७ में बी० ए० पास करके कुछ समय तक आप सेण्ट्रल हिंदू कालेज बनारस में अँगरेजी के अध्यापक रहे। काशी हिंदू विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष के पद पर आपने बड़ी तत्परता से कार्य किया। संवत् २००२ में आपका शरीरान्त हुआ।

हिन्दी साहित्य के पुनरुत्थान और प्रचार में इन्होंने जितना काम किया है, बहुत से साहित्य महारथियों ने मिलकर भी नहीं किया। बाबूजी के मौलिक ग्रन्थों के शीर्षक देखने से उनकी साहित्यिक प्रवृत्ति का पता चल जाता है। आपकी लेखनी 'भाषा-विज्ञान', 'साहित्यालोचन' जैसे गूढ़, गम्भीर तथा मनन-शील विषयों पर ही अधिक चली है।

आप तीक्ष्ण कटाक्ष न करके अपने आक्षेपों को धीमी और सांकेतिक भाषा में प्रकट करते हैं। विषय की दुरूहता ने आपकी शैली को रूखा बना दिया है। 'रूपक रहस्य', 'हिन्दी भाषा और साहित्य', 'गोस्वामी तुलसीदास', 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र' इनके अन्य ग्रन्थ हैं। आपका 'हिन्दी-शब्द-सागर' प्रसिद्ध कोश है।]

कर्त्तव्य वह वस्तु है जिसे करना हम लोगों का परमधर्म है और जिसके न करने से हम लोग और लोगों की दृष्टि से गिर जाते और अपने कुचरित्र से नीच बन जाते हैं। प्रारंभिक अवस्था में कर्त्तव्य का करना बिना दबाव से नहीं हो सकता; क्योंकि पहले-पहल मन आप ही उसे करना नहीं चाहता। इसका आरंभ पहले घर से ही होता है, क्योंकि यहाँ लड़कों का कर्त्तव्य माता-पिता की ओर और माता-पिता का कर्त्तव्य लड़कों की ओर देख पड़ता है। इसके अतिरिक्त पति-पत्नी, स्वामि-सेवक और स्त्री-पुरुष के भी परस्पर अनेक कर्त्तव्य हैं। घर के बाहर हम मित्रों, पड़ोसियों और राजा-प्रजाओं के परस्पर कर्त्तव्यों को देखते हैं। इसलिए संसार में, मनुष्य

का जीवन कर्त्तव्यों से भरा पड़ा है; जिधर देखो उधर कर्त्तव्य-ही-कर्त्तव्य देख पड़ते हैं। बस, इसी कर्त्तव्य का पूरा-पूरा पालन करना हम लोगों का धर्म है, और इसी से हम लोगों के चरित्र की शोभा बढ़ती है। कर्त्तव्य का करना न्याय पर निर्भर है और वह न्याय ऐसा है, जिसे समझने पर हम लोग प्रेम के साथ उसे कर सकते हैं।

हम सब लोगों के मन में एक ऐसी शक्ति है, जो हम सभी को बुरे कामों के करने से रोकती और अच्छे कामों की ओर हमारी प्रवृत्ति को झुकाती है। यह बहुधा देखा गया है कि जब कोई मनुष्य खोटा काम करता है, तब बिना किसी के कहे आप ही लजाता और अपने मन में दुखी होता है। तुमने बहुत देखा होगा कि जब कभी कोई लड़का किसी मिठाई को चुराकर खा लेता है, तब वह मन में डरा करता है और पीछे से आप ही पछताता है कि मैंने ऐसा काम क्यों किया, मुझे अपनी माता से कहकर खाना था। इसी प्रकार का एक दूसरा लड़का, जो कभी कुछ चुराकर नहीं खाता, सदा प्रसन्न रहता है और उसके मन में कभी किसी प्रकार का डर और पछतावा नहीं होता। इसका क्या कारण है? यही कि हम लोगों का यह कर्त्तव्य है कि हम कभी चोरी न करें। परंतु जब हम चोरी कर बैठते हैं, तब हमारी आत्मा हमें कोसने लगती है। इसलिए हमारा यह धर्म है कि हमारी आत्मा हमें जो कहे, उसके अनुसार हम करें। दृढ़ विश्वास रखो कि जब तुम्हारा मन किसी काम के करने से हिचकिचाये और दूर भागे, तब कभी तुम उस काम को न करो। तुम्हें अपना धर्म-पालन करने में बहुधा कष्ट उठाना पड़ेगा; पर इससे तुम साहस न छोड़ो। क्या हुआ, जो तुम्हारे पड़ोसी ठग-विद्या और असत्यपरता से धनाढ्य हो गए और तुम कंगाल ही रह गए। क्या हुआ, जो दूसरे लोगों ने झूठी चाटुकारी करके बड़ी-बड़ी नौकरियाँ पा लीं और तुम्हें कुछ न मिला और क्या हुआ, जो दूसरे नीच कर्म करके सुख भोगते हैं और तुम सदा कष्ट में रहते हो। तुम अपने कर्त्तव्य धर्म को कभी न छोड़ो और देखो, इससे बढ़कर संतोष और आदर क्या हो सकता है कि तुम अपने धर्म का पालन कर सकते हो।

हम लोगों का जीवन सदा अनेक कार्यों में व्यस्त रहता है।

हम लोगों को सदा ही काम करते बीतता है। इसलिए हम लोगों को इस बात का पूरा ध्यान रखना चाहिए कि हम लोग सदा अपने धर्म के अनुसार काम करें और कभी उसके पथ पर से न हटें; चाहे उसके करने में हमारे प्राण भी चले जायँ तो कोई चिंता नहीं।

धर्मपालन करने के मार्ग में सबसे अधिक बाधा चित्त की चंचलता, उद्देश्य की अस्थिरता और मन की निर्बलता से पड़ती है। मनुष्य के कर्त्तव्य-मार्ग में एक ओर तो आत्मा के भले और बुरे कर्मों का ज्ञान, और दूसरी ओर आलस्य और स्वार्थपरता रहती है। बस, मनुष्य इन्हीं दोनों के बीच में पड़ा रहता है, और अंत में यदि उसका मन पक्का हुआ, तो वह आत्मा की आज्ञा मानकर अपने धर्म का पालन करता है और यदि उसका मन कुछ काल तक द्विविधा में पड़ा रहा, तो स्वार्थपरता निश्चय उसे आ घेरेगी और उसका चरित्र घृणा के योग्य हो जायगा। इसलिए यह बहुत आवश्यक है कि आत्मा जिस बात के करने की प्रवृत्ति दे, उसे बिना अपना स्वार्थ सोचे, झटपट कर डालना चाहिए। ऐसा करते-करते जब धर्म करने की बान पड़ जायगी, तब किसी बात का भय न रहेगा।

इस संसार में जितने बड़े-बड़े लोग हो गए हैं, जिन्होंने संसार का उपकार किया है और उसके लिए आदर और सत्कार पाया है, उन सभी ने अपने कर्त्तव्य को सबसे श्रेष्ठ माना है; क्योंकि जितने कर्म उन्होंने किए उन सभी में अपने कर्त्तव्य पर ध्यान देकर न्याय का बर्ताव किया। जिन जातियों में यह गुण पाया जाता है, वही संसार में उन्नति करती हैं और संसार में उनका नाम आदर के साथ लिया जाता है। एक समय किसी अँगरेजी जहाज में, जब वह बीच समुद्र में था, एक छेद हो गया। उस पर बहुत-सी स्त्रियाँ और पुरुष थे। उसके बचाने का पूरा-पूरा उद्योग किया गया, पर जब कोई उपाय सफल न हुआ, तब जितनी स्त्रियाँ उस पर थीं, सब नावों पर चढ़ाकर बिदा कर दी गईं, और जितने मनुष्य उस पोत पर बच गए थे, उन्होंने उसकी छत पर इकट्ठे होकर ईश्वर को धन्यवाद दिया कि वे अब तक अपना कर्त्तव्य पालन कर सके और स्त्रियों की प्राण-रक्षा में सहायक हो सके। निदान इसी प्रकार ईश्वर की प्रार्थना करते-करते उस पोत में पानी भर आया और वह डूब गया; पर वे लोग अपने

स्थान पर ज्यों-के-त्यों खड़े रहे; उन्होंने अपने प्राण बचाने का कोई उद्योग नहीं किया। इसका कारण यह था कि यदि वे अपने प्राण बचाने का उद्योग करते, तो स्त्रियाँ और बच्चे न बच सकते। इसी लिए उस पोत के लोगों ने अपना धर्म यही समझा कि अपने प्राण देकर स्त्रियों और बच्चों के प्राण बचाने चाहिएँ। इसी के विरुद्ध फ्रांस देश के रहनेवालों ने एक डूबते हुए जहाज पर से अपने प्राण तो बचाये; किंतु उस पोत पर जितनी स्त्रियाँ और बच्चे थे, उन सभी को उसी पर छोड़ दिया। इस नीच कर्म की सारे संसार में निन्दा हुई। इसी प्रकार जो लोग स्वार्थी होकर अपने कर्त्तव्य पर ध्यान नहीं देते, वे संसार में लज्जित होते हैं और सब लोग उनसे घृणा करते हैं।

कर्त्तव्य-पालन से और सत्यता से बड़ा घनिष्ठ संबंध है। जो मनुष्य अपना कर्त्तव्य पालन करता है, वह अपने कामों और वचनों में सत्यता का बर्ताव भी रखता है। वह ठीक समय पर उचित रीति से अच्छे कामों को करता है। सत्यता ही एक ऐसी वस्तु है, जिससे इस संसार में मनुष्य अपने कार्यों में सफलता पा सकता है, क्योंकि संसार में कोई काम झूठ बोलने से नहीं चल सकता। यदि किसी के घर सब लोग झूठ बोलने लगें, तो उस घर में कोई काम न हो सकेगा और सब लोग बड़ा दुःख भोगेंगे। इसलिए हम लोगों को अपने कार्यों में झूठ का बर्ताव कभी न करना चाहिए। अतएव सत्यता को सबसे ऊँचा स्थान देना उचित है। संसार में जितने पाप हैं, झूठ उन सभी से बुरा है। झूठ की उत्पत्ति पाप, कुटिलता और कादरता के कारण होता है। बहुत से लोग सचाई का इतना थोड़ा ध्यान रखते हैं कि अपने सेवकों को स्वयं झूठ बोलना सिखाते हैं। पर उनको इस बात पर आश्चर्य करना और क्रुद्ध होना न चाहिए, जब उनके नौकर भी उनसे अपने लिए झूठ बोलें।

बहुत से लोग नीति और आवश्यकता के बहाने झूठ की रक्षा करते हैं। वे कहते हैं कि इस समय इस बात को प्रकाशित न करना और दूसरी बात को बनाकर कहना, नीति के अनुसार, समयानुकूल और परम आवश्यक है। फिर बहुत से लोग किसी बात को सत्य-सत्य कहते हैं; पर उसे इस प्रकार से घुमा-फिराकर कहते हैं कि

सुननेवाला यही समझे कि यह बात सत्य नहीं है, वरन् इसका उलटा सत्य होगा। इस प्रकार से बातों का कहना झूठ बोलने के पाप से किसी प्रकार काम नहीं।

संसार में बहुत ऐसे भी नीच और कुत्सित लोग होते हैं, जो झूठ बोलने में अपना चतुराई समझते हैं और सत्य को छिपाकर धोखा देने या झूठ बोलकर अपने को बचा लेने में ही अपना परम गौरव मानते हैं। ऐसे लोग ही समाज को नष्ट करके दुःख और संताप के फैलने के मुख्य कारण होते हैं। इस प्रकार का झूठ बोलना स्पष्ट बोलने से अधिक निंदित और कुत्सित कर्म है।

झूठ बोलना और भी कई रूपों में देख पड़ता है। जैसे चुप रहना, किसी बात को बढ़ाकर कहना, किसी बात को छिपाना, भेष बदलना, झूठमूठ दूसरों के साथ हाँ-में-हाँ मिलाना, प्रतिज्ञा करके उसे पूरा न करना और सत्य न बोलना इत्यादि। जब ऐसा करना धर्म के विरुद्ध है, तब ये सब बातें झूठ बोलने से किसी प्रकार कम नहीं हैं। फिर ऐसे लोग भी होते हैं, जो मुँहदेखी बातें बनाया करते हैं; परन्तु करते वही काम हैं, जो उन्हें रुचता है। ऐसे लोग मन में समझते हैं कि सबको मूर्ख बनाकर हमने अपना काम कर लिया; पर वास्तव में वे अपने को ही मूर्ख बनाते हैं और अंत में उनकी पोल खुल जाने पर समाज में सब लोग उनसे घृणा करते और उनसे बात करना अपना अपमान समझते हैं।

कुछ लोग ऐसे भी होते हैं, जो अपने मन में किसी गुण के न रहने पर भी गुणवान् बनना चाहते हैं। जैसे यदि कोई पुरुष कविता करना न जानता हो, पर वह अपना ढङ्ग ऐसा बनाये रहे, जिससे लोग समझें कि यह कविता करना जानता है, तो यह कविता का आडम्बर रखनेवाला मनुष्य झूठा है, और फिर यह अपने भेष का निर्वाह पूरी रीति से न कर सकने पर दुःख सहता है और अंत में भेद खुल जाने पर सब लोगों की आँखों में झूठा और नीच गिना जाता है। परन्तु जो मनुष्य सत्य बोलता है, वह आडंबर से दूर भागता है और उसे दिखावा नहीं रुचता। उसे तो इसी में बड़ा संतोष और आनन्द होता है कि सत्यता के साथ वह अपना कर्त्तव्य पालन कर सकता है।

इसलिए हम सब लोगों का यह परम धर्म है कि सत्य बोलने को सबसे श्रेष्ठ मानें और कभी झूठ न बोलें, चाहे उससे कितनी ही अधिक हानि क्यों न होती हो। सत्य बोलने से ही समाज में हमारा सम्मान हो सकेगा और हम आनन्दपूर्वक अपना समय बिता सकेंगे। क्योंकि सच को सब कोई चाहते और झूठे से सभी घृणा करते हैं। यदि हम सदा सत्य बोलना अपना धर्म मानेंगे, तो हमें अपने कर्त्तव्य के पालन करने में कुछ भी कष्ट न होगा और बिना किसी परिश्रम और कष्ट के हम अपने मन में सदा संतुष्ट और सुखी बने रहेंगे।

अभ्यास

१—मनुष्य का जीवन कर्त्तव्यों से किस प्रकार भरा पड़ा है? आप अपने कर्त्तव्यों का पालन करने में कितने सतर्क रहते हैं और किस प्रकार?

२—क्या आपने कभी यह अनुभव किया है कि किसी बुरे काम को करने से आपके मन की किसी शक्ति ने आपको रोका है? यदि हाँ, तो संक्षेप में अपने विचार प्रकट कीजिए।

३—कुछ उदाहरण देकर सिद्ध कीजिए कि इस संसार में जितने बड़े-बड़े लोग हो गए हैं, उन्होंने अपने कर्त्तव्य को ही सबसे श्रेष्ठ माना था?

४—इस पाठ के अन्तिम पैराग्राफ में प्रयुक्त सामासिक शब्दों को चुनकर उनके भेद बतलाइए।

५—राष्ट्रपिता महात्मा गांधी के जीवन से कोई ऐसा उदाहरण दीजिए जिससे यह प्रकट हो कि कर्त्तव्य-पालन और सत्यता में बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है।

———

२४—सोने की जंजीर

श्री देवीदयाल चतुर्वेदी 'मस्त'

[हिन्दी के प्रख्यात पत्रकार, और कवि श्री देवीदयाल चतुर्वेदी 'मस्त' का जन्म २० जुलाई १९११ को देवरी (सागर, मध्य प्रदेश) में हुआ। 'सरस्वती' 'मंजरी' 'बिजली' आदि सुप्रसिद्ध पत्रिकाओं के आप सम्पादक रह चुके हैं।

आपकी प्रतिभा बहुमुखी है। जब जो लिखा, सफलता ने उनका सदा वरण किया। बच्चों के लेकर बूढ़ों तक के लिए आपने साहित्य के विभिन्न अंगों को पुष्ट किया है।

झिलमिल तारे, मीठी तानें, शेर का शिकारी आदि आपकी बालोपयोगी पुस्तकें हैं। अभिषेक, धरती-आकाश, अमर जीवन, आदि आपकी किशोरोपयोगी पुस्तकें हैं। रानी दुर्गावती आपका लोकप्रिय खण्डकाव्य है, जिस पर कई पुरस्कार आपको मिल चुके हैं। हवा का रुख, छोटी बात, आवर्त्तन, रंगीन डोरे, उलटफेर आदि आपके सुप्रसिद्ध कहानी-संग्रह हैं और प्रवाह, अनुष्ठान, रंगमहल, आँखमिचौनी, रैनबसेरा आदि आपके लोकप्रिय उपन्यास हैं। 'प्रवाह' पर आपको उत्तर प्रदेशीय सरकार द्वारा ५००) पाँच सौ रुपये का पुरस्कार दिया जा चुका है। आपका कहानी-संग्रह 'हवा का रुख' उत्तरप्रदेशीय और मध्य-प्रदेशीय सरकारों द्वारा क्रमशः ३००) तीन सौ और ५००) पाँच सौ रु० देकर पुरस्कृत किया गया है।

'सोने की जंजीर' बड़ी प्रभावोत्पादक चरित्र-प्रधान कहानी है। पार्वती, उसकी माँ और देवसिंह का सजीव चित्रण पढ़नेवाले पर अथवा अमिट प्रभाव छोड़ जाता है।]

ठाकुर देवसिंह का व्यक्तित्व अपने गाँव में सानी नहीं रखता था। लम्बी और घनी मूँछें, भरे हुए गाल, बड़ी-बड़ी प्रभावोत्पादक आँखें, चौड़ा ललाट, उठी हुई नाक और इन सबके बीच सिर पर कलगीदार रजपूती साफा देखकर महाराणा प्रताप का चित्र सामने आ जाता था। चूड़ीदार पाजामा और शेरवानी पहनकर, एक हाथ में खासा लम्बा डण्डा लेकर जब देवसिंह गाँव में कहीं निकल जाते,

तो परिचित-अपरिचित सभी लोगों के हाथ उनका अभिवादन करने के लिए अनायास उठ जाते थे।

कुछ अपरिचितों को तो, देवसिंह को देखकर गाँव के जमींदार का भ्रम होने लगता था। लेकिन देवसिंह के परिचित जानते थे कि जमींदार का व्यक्तित्व इस ठाकुर के सामने भीगी बिल्ली-जैसा दीखता था। जमींदार के पास धन-दौलत है, गगन-विचुम्बी हवेली है, दास-दासियों की बहुलता है, लेकिन देवसिंह की तरह न तो उनका व्यक्तित्व है, न उदार हृदय।

गाँववालों के लिए यह देवसिंह अपने प्राण तक चढ़ा देने के लिए तत्पर रहते थे। देवसिंह के रहते, इन गाँववालों पर कोई अत्याचार नहीं कर सकता था। गाँव वाले भी अपने इस हितचिंतक के इंगित पर अपना सर्वस्व होम कर देने की भावना से खाली नहीं थे। यह बात दूसरी है कि कभी कोई ऐसा अवसर नहीं आया, जब गाँववाले देवसिंह के उपकारों का कोई प्रतिदान कर सके हों।

दो साल पहले ऐसा ही एक मौका आते-आते टल गया। जमींदार भूपेन्द्रसिंह के एक रिश्तेदार दशहरे के समय इस गाँव में आए थे। दशहरा बीत जाने पर भी वह शरद् पूर्णिमा तक यहाँ मेहमानी करते रहे। इसी सिलसिले में महेन्द्रसिंह के सम्बन्ध में गाँव में यह कानाफूसी होने लगी कि जमींदार का यह रिश्तेदार भलामानुस नहीं दीखता। जमींदार की हवेली में जो परिचारिकाएँ काम करती हैं, उनके साथ इसकी ठठोली सीमा को पार करती जा रही है।

पेट के लिए गाँववाले अपनी बहू-बेटियों को भले ही जमींदार की हवेली मे काम करने के लिए भेजते हों, परन्तु उनकी इज्जत पर कोई आँच नहीं आ सकती। फिर, जमींदार तो गाँव का रक्षक होता है न! उसकी हवेली में ही यदि इस प्रकार गाँव की बहू-बेटियों पर कोई कुत्सित दृष्टि फेंकने लगे, तब गाँववालों की इज्जत-आबरू की रक्षा कैसे हो सकेगी?

बात यह हुई कि नवमी के दिन देवी का पूजन हो जाने के बाद रात्रि में जमींदार साहब के यहाँ भोज था। भोज के

पहले रात्रि के प्रथम प्रहर में गाँव की कुछ कुमारियों के नृत्य-प्रदर्शन का आयोजन किया गया। निमन्त्रित मेहमानों के मनोरञ्जन के लिए ही यह सब किया गया था। नाचनेवाली कुमारियों में पार्वती का नृत्य सबसे अधिक आकर्षक रहा।

आठ-दस कुमारियाँ थीं। प्रत्येक कुमारी अपना बायाँ हाथ निकटवाली कुमारी के कन्धे पर रख और दाएँ हाथ से अर्द्ध चन्द्राकार रूप में अपने सिर पर रखे कलश को सँभाले हुए एक घेरे में नाच रही थी। घेरा बनानेवाली कुमारियों के मध्य में पार्वती भी अपने सिर पर एक कलश रखे हुए खुलकर नाच रही थी। उसके कलश पर घी के सात दीपक जगमगा रहे थे। लेकिन पार्वती के नाचने में यही सबसे बड़ी विशेषता थी कि एक भी दीपक उसके कलश से हिलडुलकर कहीं गिर नहीं सका।

पार्वती का नृत्य देख सारे दर्शक मन्त्र-मुग्ध से रह गए। एक साधारण-से गाँव में नृत्य-कला का यह विकसित रूप प्रायः सभी को आश्चर्यजनक प्रतीत हुआ। पार्वती के नृत्य-कौशल की प्रशंसा सभी की वाणी पर थी। जमींदार के रिश्तेदार महेन्द्रसिंह तो विशेष रूप से प्रभावित हुए थे। नृत्य समाप्त होने पर उन्होंने स्वयं सोने की एक जंजीर पार्वती के कलश पर जगमगाते सात दीपकों के बीच रखते हुए कहा था—'बहुत सुन्दर नाचती हो पार्वती। यह इनाम देता हूँ तुम्हें।'

'इनाम के लिए नहीं नाची मैं।' पार्वती ने अपने गुलाब जैसे प्रफुल्लित मुख पर मुसकान की पतली-सी रेखा को जन्म देते हुए कह दिया—'जमींदार साहब की नौकरी करती हूँ। उनके मेहमान से इनाम नहीं लूँगी।' और बड़ी-बड़ी आँखों में एक बार महेन्द्रसिंह को बारीकी से देखते हुए वह स्वयं जमींदार के सामने जा पहुँची। कलश के थाल में से सोने की चेन उनके सामने रखते हुए उसने कहा—'यह इनाम मैं न लूँगी।'

पार्वती की सहेलियाँ यह देख विस्मय-विमुग्ध हो गईं। उनमें से एक ने अपनी सहेली से कहा—'यह परबतिया पागल है शायद। अरे, कोई इनाम देता है, तो ले क्यों नहीं लेती?'

'मुझे कोई देता, तो मैं अवश्य ले लेती,' उस सहेली ने आँखें नचाते हुए धीमे स्वर में कहा।

'हाँ री, यह जंजीर कम-से-कम दो तोले की होगी।' तीसरी कुमारी ने कहा—'आजकल सोना बड़ा महँगा है। और नहीं, तो दो सौ रुपए की होगी वह जंजीर।'

इन कुमारियों के मन में शायद एक ईर्ष्या पार्वती के प्रति उत्पन्न हो चुकी थी। परन्तु पार्वती के नृत्य की धाक इन सब पर पहले से ही जमी हुई थी। पार्वती की रूपराशि भी इन सब की तुलना में सर्वोपरि थी, इस तथ्य से ये कुमारियाँ भली-भाँति परिचित थीं। कदाचित इसी लिए चौथी सहेली ने कहा—'एक बात है बहिन, अकेला नाच ही ऐसा आकर्षक नहीं, जो इतना कीमती इनाम दिला सके।'

'चुप भी रह चुड़ैल!' एक दूसरी कुमारी ने आँख तरेरते हुए कहा—'कोई सुन लेगा तो गजब हो जायगा। जानती नहीं, देवसिंह ठाकुर इस परबतिया को अपनी बेटी से बढ़कर मानते हैं। उसके सम्बन्ध में ऐरी-गैरी बातें कहीं उनके कान में पहुँच गईं, तो अनर्थ हो जाएगा।'

'जानती हूँ री!' उसी कुमारी ने कहा—'और, देवसिंह ठाकुर तो देवता हैं—देवता। अकेली परबतिया को ही वह अपनी बेटी समझते हों, सो बात नहीं। हम सबको—गाँव की एक-एक कुमारी को—वह अपनी बेटी समझते हैं।'

'सो तो ठीक है।' दूसरी कुमारी ने कहा—'लेकिन हाथ की पाँचों अँगुलियाँ बराबर नहीं होतीं। परबतिया पर उनका अगाध स्नेह है।'

इसी बीच जमींदार साहब दर्शकों के बीच खड़े होकर पार्वती को समझा रहे थे—'पिता यदि अपनी पुत्री को कोई इनाम देता है; बड़ा भाई यदि अपनी छोटी बहिन को कोई भेंट देता है, तो मैं समझता हूँ, उसे लेने में किसी भी पुत्री या बहिन को कोई संकोच न होना चाहिए। इससे अधिक मैं क्या कहूँ? इतना अवश्य कहूँगा कि यह इनाम तुम्हें अवश्य ले लेना चाहिए। फिर जैसी तुम्हारी इच्छा!'

पार्वती ने एक क्षण कुछ सोचा और वह सोने की जंजीर ले

ली। इनाम देनेवाले महेन्द्रसिंह की तरफ पुनः पार्वती ने देखा, लेकिन पाया कि उनकी दृष्टि इस बार झुकी हुई थी। गैस के तीव्र प्रकाश में उनके माथे पर पसीने की बूँदें साफ चमक रही थीं। पार्वती कुछ समझ न सकी। वह अपनी सहेलियों के पास आ गई और हवेली में चली गई।

जमींदारिन साहिबा ने प्यार से पार्वती को अपने गले लगा लिया और कहा—'तू इतना अच्छा नाचती है, यह मैंने आज जाना।' फिर एक क्षण रुककर उसके हाथ पर दस रुपए का एक नोट रखते हुए उन्होंने कहा—'यह मेरी तरफ से इनाम ले। कल दशहरा है न, सो मिठाई खाना जी भरकर।'

'मिठाई तो आपके यहाँ इतनी मिलेगी कि कई दिनों तक वही खाए न बढ़ाएगी। फिर, इन रुपयों की क्या जरूरत है, मालकिन?' पार्वती ने नीची दृष्टि से कहा।

'तुम अकेली नहीं, पार्वती!' जमींदारिन ने किसी तरह पार्वती की बात को काटते हुए और इस आशंका से कि कहीं वह रुपए लौटा न दे, मुसकराते हुए कहा—'अपनी इन सभी सहेलियों के साथ, जो चाहो कल लेना इन दस रुपयों का।'

और भोज समाप्त होने पर उस दिन पार्वती बहुत रात बीते अपनी सहेलियों के साथ अपने घर पहुँची।

पार्वती की माँ विधवा है। उसके आगे-पीछे कोई भाई-बहिन भी नहीं। पार्वती के पिता जब से इस दुनिया से उठ गए हैं, केवल ठाकुर देवसिंह का ही सहारा है उसकी माँ को। बड़ा घरोपा था पार्वती के पिता और देवसिंह में। देवसिंह भी अपने स्वर्गीय सखा की घनिष्ठता को अब तक बराबर निभाए जाता है। कभी कोई आँख उठाकर नहीं देख सकता पार्वती की तरफ। कभी कोई आधी बात भी नहीं कह सकता पार्वती की माँ से।

पार्वती की माँ को जाने क्यों सोने की वह जंजीर मानो काटने को दौड़ रही थी। महेन्द्रसिंह के सम्बन्ध में कुछ ऐसी-वैसी बातें उसके कानों में भी पड़ चुकी थीं न! उसने दूसरे ही दिन सुबह देवसिंह को सारा हाल सुनाया—कल के परबतिया के नाच का और उस जंजीर का, जो उसे जमींदार के रिश्तेदार महेन्द्रसिंह ने दी थी।

देवसिंह ने मुसकराते हुए कहा—'कोई हर्ज नहीं है, भाभी! जमींदार साहब दिल के साफ आदमी हैं। मैं सुन चुका हूँ सारा किस्सा। परवतिया तो सोने की जंजीर ले ही नहीं रही थी। लेकिन जमींदार साहब ने कहा कि कोई पिता या बड़ा भाई अपनी पुत्री या छोटी बहिन को यदि कोई इनाम देता है, तो उसे लेने में संकोच नहीं करना चाहिए। तब कहीं हमारी परवतिया ने जंजीर ली है, भाभी! तुम चिन्ता क्यों करती हो? परवतिया पर हमें भरोसा है। वह गलत राह पर कदम नहीं बढ़ा सकती। और जो गलत राह पर उसे घसीटने का प्रयत्न करेगा, दुस्साहस करेगा, उसके लिए मेरा डण्डा मौजूद है ही।'

पार्वती की विधवा माँ को आन्तरिक सन्तोष हुआ देवसिंह की आत्मीयता-भरी बातें सुनकर। वह चुपचाप चली आई अपने घर। लेकिन रह-रहकर उसे जाने क्यों ऐसा लगता कि यह सोने की जंजीर कहीं कोई उपद्रव न खड़ा कर दे। उसे स्वयं पर एक खीझ होने लगी कि नाहक उसने पार्वती को नाच सिखाया। लेकिन घर में सिखलाए गए नाच का कभी सार्वजनिक प्रदर्शन होने की उसने कल्पना भी नहीं की थी। अपने मन की इस डावाँडोल दशा को उसने पार्वती पर या अन्य किसी पर प्रकट नहीं होने दिया।

लेकिन उसकी आशंका दशहरे के पश्चात् शरत् पूर्णिमा की रात में शायद सत्य होने जा रही थी। उस रात को भी जमींदार की हवेली में बड़ी देर तक चहल-पहल रही। गाँव-भर के लोगों को उस रात मीठा दूध बाँटा जाता है हवेली में। इसी लिए पार्वती भी शरत् पूर्णिमा की रात में बहुत देर से घर लौटी। परन्तु लौटते ही उसने अपनी माँ से कहा—'माँ, वह सोने की जंजीर आज मैं फेंक आई।'

'फेंक आई!' साश्चर्य दोहराया पार्वती की विधवा माँ ने—'क्या कह रही है तू! कहाँ फेंक आई?'

'जिसने दी थी, उसी के सामने।'

'क्यों?'

'जब दूध बाँटा जा रहा था, मैं जमींदारिन साहिबा के नन्हें को हवेली की खुली छत पर चन्दा दिखला रही थी। छत पर उस

समय मैं अकेली ही थी। इसी बीच वह महेन्द्रसिंह मेरे पास अचानक आ पहुँचा। मेरे कन्धे पर एक हाथ रखते हुए उसने कहा—'पार्वती!' मैं चौंक पड़ी। काटो तो खून नहीं। सोने की जंजीर देनेवाला यह जमींदार का रिश्तेदार आखिर क्यों मेरे पास इस एकान्त छत पर आया है। मैंने उसके हाथ को झटकते हुए कहा—'आप क्या कहना चाहते हैं?' और इसके बाद उसने क्या कहा, यह मत पूछो, माँ।' और पार्वती हिचकियाँ लेते हुए रो उठी।

माँ ने उसे छाती से लगाते हुए कहा—'घबराओ मत बेटी! तुम बतलाओ तो सही, क्या कहा उस दुष्ट ने? मैं तो पहले ही यह आशंका कर रही थी; लेकिन तुम्हारे देव चाचा के कहने पर मैं कुछ अधिक नहीं बोली थी।'

हिचकियाँ कुछ कम हुईं तो पार्वती ने कुछ प्रकृतिस्थ होते हुए कहा—'कह रहा था—'पार्वती, तुम बहुत सुन्दर हो। लेकिन जमींदार की तरह मैं तुम्हें पुत्री या छोटी बहिन नहीं समझ सकता।' इस पर मैंने कहा—'अच्छा, ठहरिए। अभी मालकिन को बुलाकर फैसला किये देती हूँ। और तुमने जो सोने की जंजीर मुझे दी है, उस पर मैं थू करती हूँ। रख छोड़ो इसे, किसी और को देकर यह सपना देखना।' और सोने की वह जंजीर उसके पैरों पर फेंककर मैं मालकिन के पास चली गई। मालकिन को एकान्त में ले जाकर मैंने सारी कहानी सुनाई, तो वह भौंचक्की-सी रह गईं। उन्होंने फौरन जमींदार साहब को भीतर बुलवाया और महेन्द्रसिंह की इस बेजा हरकत पर भला-बुरा कह सुनाया।'

'जमींदार साहब ने क्या कहा, यह सब सुनकर?' माँ ने प्रश्न किया।

'बहुत अफसोस जाहिर किया उन्होंने, माँ!' पार्वती ने कहा—'मुझे भी बहुत समझाया और कहा कि इस समय बहुत से लोग बैठे हैं, नहीं तो इसी वक्त महेन्द्रसिंह को मैं फटकार देता। लोगों के चले जाने पर मैं उसे समझा दूँगा कि यह हरकत ठीक नहीं। हमारे गाँव में यह सब न हो सकेगा।'

'हूँ!' कहकर पार्वती की माँ बोली—'अच्छा', मैं अभी आती

हूँ। तनिक तेरे देव चाचा को सुना दूँ जमींदार साहब के रिश्तेदार की यह हरकत !'

'कल सुना देना, माँ !' पार्वती ने कहा—'ऐसी जल्दी क्या पड़ी है ! इतनी रात बीते क्या होगा यह सब कहने से ?'

लेकिन पार्वती की माँ नहीं रुकी—नहीं मानी !.....

और ठाकुर देवसिंह जब अपना डण्डा लेकर जमींदार की हवेली पर रात के उसी सन्नाटे में जाकर गरज उठे, तब रात्रि का सन्नाटा एकाएक मुखरित हो उठा। कितने ही गाँववाले ठाकुर देवसिंह की गर्जना सुनते ही हवेली के सामने अपने-अपने डण्डे लेकर जा पहुँचे।

देवसिंह कह रहे थे—'जमींदार का रिश्तेदार हो या देवता का दूत। हमारे गाँव की बहू-बेटियों पर जो बुरी नजर फेंकेगा, हम उसके टुकड़े-टुकड़े कर देंगे और नदी में बहा देंगे।'

और गाँववाले कह रहे थे—'देव ठाकुर का अपमान करनेवाला चाहे जमींदार हो या लाट गवर्नर, हम उसकी हड्डी-पसली तोड़ देंगे।'

दुबले-पतले जमींदार साहब फौरन अपनी हवेली से बाहर निकल आए। वह जानते थे कि ठाकुर देवसिंह के सामने कोई अकड़ नहीं सकता। चरित्र के जितने दृढ़ थे देवसिंह, सत्य और शक्ति के उतने ही उपासक। उनका डण्डा यद्यपि आज तक किसी के खून से रँगा नहीं गया था, लेकिन तलवार से भी अधिक मार-काट करने की उसमें क्षमता थी। उस डण्डे के पीछे सारे गाँव की शक्ति जो थी। ऐसी हालत में देवसिंह की गर्जना सुनते ही जमींदार साहब पसीना-पसीना हो गए। पहले तो बाहर निकलने की हिम्मत ही नहीं पड़ रही थी; परन्तु वह स्वयं दोषी नहीं थे, अतः किसी तरह सारा साहस बटोरकर बाहर आ खड़े हुए। देवसिंह के निकट पहुँचते ही उन्होंने कहा—'ठाकुर साहब, आप बैठिए तो सही ! आप जो कहेंगे, वही किया जायगा।'

ठाकुर देवसिंह की आँखों से मानो खून टपक रहा था। वह कह उठे—'बैठूँगा नहीं आज। खड़े-खड़े ही फैसला करूँगा। उस महेन्द्रसिंह को सामने बुलाइए। जालिम महेन्द्रसिंह !'

'आप इस समय बहुत क्रोधित हैं।' जमींदार ने नम्रतापूर्वक कहा—'गुनहगार की हरकत पर उसे दण्ड देने का मैं स्वयं समर्थक हूँ। आप तो जानते ही हैं, गाँव की बहू-बेटियों को मैं अपनी ही माँ-बहिन समझता हूँ। और, कहने की जरूरत नहीं कि आज तक आपने कभी मेरे खिलाफ इस सम्बन्ध में कोई शिकायत सुनी भी न होगी। लेकिन मेरे यहाँ आनेवाला कौन, किस तरह का व्यक्ति है, यह मैं कैसे जान सकता हूँ? हाँ, जानकर मैं यह सब बर्दाश्त नहीं कर सकता। मेरे यहाँ के दूसरे मेहमान साक्षी हैं कि महेन्द्रसिंह की इस हरकत पर मैंने उन्हें किस तरह फटकारा। और नतीजा यह हुआ कि वह इसी वक्त यहाँ से कूच कर गए। अब शायद इस गाँव में आने का वह कभी नाम भी न लेंगे।'

यह सुनते ही एक क्षण के लिए तो ठाकुर देवसिंह ने समझा कि जमींदार अपने रिश्तेदार को बचाने के लिए ही यह नम्रता दिखला रहे हैं और उसके भाग जाने की बात कह रहे हैं; परन्तु जब गाँववालों में से भी दो-चार ने महेन्द्रसिंह के अभी-अभी चले जाने की बात कही, तब देवसिंह का क्रोध शान्त हो गया। हरकत करनेवाला ही जब भाग गया, तब क्रोध किस पर किया जाए? देवसिंह लौट आए अपने घर।

जो कहीं उस दिन जमींदार की हवेली में महेन्द्रसिंह मिल जाते, तो न केवल देवसिंह का डण्डा उनके सिर का खून बहा देता; बल्कि गाँववालों को भी अपने इस शुभचिन्तक के प्रति किसी-न-किसी रूप में कुछ प्रतिदान करने का अवसर मिल जाता। परन्तु यह सब न उस दिन हो सका और न फिर कभी इसका अवसर आ सका।

गाँववालों ने उक्त घटना के बाद देवसिंह से कई बार कहा कि महेन्द्र उस दिन यहाँ से कान-पूँछ दबाकर भाग अवश्य गया है; लेकिन उसकी जमींदारी यहाँ से सिर्फ सोलह कोस की दूरी पर है। और सुनते हैं कि जाते समय वह जमींदार से यह भी कह गया है—'आप जमींदार होकर भी एक ठाकुर देवसिंह से इतना डरते हैं—दबते हैं और उसके सामने भीगी बिल्ली की तरह रहते हैं। लेकिन मैं ऐसे देवसिंह की परवा नहीं करता। मेरी जमींदारी

यहाँ होती, तो आज ही इसका प्रमाण दे देता। फिर भी जिस देवसिंह के कारण आज आपने मेरा अपमान किया है, उसे मैं कभी-न-कभी देख ही लूँगा।'

देवसिंह ने सहज मुसकराहट के आवरण में कह दिया था—'ऐसी गीदड़ धमकियों से देवसिंह को कोई भयभीत नहीं कर सकता। मेरा डण्डा दस-पाँच को तो सहज ही यमलोक पहुँचा सकता है।'

'लेकिन जो मन का मलीन और चरित्र का हीन होता है" एक वयोवृद्ध ग्रामीण ने कहा था—'वह सामने आकर वार करने की हिम्मत नहीं करता, ठाकुर ! उसमें नैतिक साहस बिलकुल नहीं होता। वह तो लुक-छिपकर और दूसरों को उकसाकर या उनकी मुट्ठी गरम करके ही अपना बदला लेता है।'

'इसकी कोई दवा नहीं, दादा !' देवसिंह ने कह दिया था—'यदि ऐसा कभी हो भी जाए, तो आप लोगों से मैं यही कहूँगा कि ऐसे नीच से बदला लेने की नीचता पर आप लोग कभी भूलकर भी न उतरें। वह तो अपने-आप कुत्तों की मौत मरेगा।' और उस प्रकरण को देवसिंह ने वहीं समाप्त कर दिया था।

लेकिन दीपावली के बाद भैया-दूज मनाने के लिए जब देवसिंह अपनी बहिन के गाँव गए और तीसरे दिन निर्धारित समय पर अपने घर न लौटे, तो परिवारवालों को स्वभावतः चिन्ता होने लगी। गाँव-भर में यह बात फैल गई। गाँववालों में से पन्द्रह-बीस लठैत अपने-अपने डण्डे लेकर उनकी खोज में चल पड़े।

गाँव से लगभग दस मील की दूरी पर एक सघन वन-प्रान्त पड़ता था। वहीं एक नाले के किनारे एक वृक्ष से बँधा हुआ देवसिंह का निर्जीव शरीर पाकर गाँववालों के होश उड़ गए। निर्ममतापूर्वक उनके सिर पर लाठियों के वार किए गए थे। गाँववालों की आँखों के सामने तितलियाँ नाच उठीं। वे फौरन समझ गए कि यह सब महेन्द्रसिंह की काली करतूत है।

देवसिंह का निर्जीव शरीर जब गाँव में लाया गया, तो सारा गाँव गहरे शोक से भर उठा। कितने ही गाँववाले तो महेन्द्रसिंह का खून करने के लिए तत्पर हो उठे। परन्तु वयोवृद्ध गाँववालों के सम-

झाने-बुझाने और स्वयं देवसिंह के शब्दों की याद दिलाने पर किसी तरह उनकी आग शान्त हुई।

इसका बदला भी लिया गया; लेकिन पुलिस और अदालत के ही सहारे। महेन्द्र के विरुद्ध अभियोग भी सिद्ध हो गया। गाँववालों ने महेन्द्रसिंह के रिश्तेदार—अपने जमींदार—को ही सबूत के गवाहों में अदालत के सामने पेश कर दिया। जमींदार जानता था कि यदि वह सच-सच बयान न देगा, तो गाँववाले उसे जीवित न रहने देंगे। महेन्द्रसिंह की बदला लेने की बात और सोने की जंजीर तथा शरत् पूर्णिमा को रातवाली हरकत का ब्योरेवार बयान जमींदार ने अदालत में दे दिया। गाँववालों के खिलाफ एक शब्द भी वह न कह सका।

मुकदमे के फैसले में रुपयों की महाशक्ति ने काम किया अथवा अन्य किसी प्रामाणिक तथ्य ने, यह तो सभी गाँववालों को पता नहीं; परन्तु इतना सब लोग जानते हैं कि आज महेन्द्रसिंह आजीवन कारावास का दण्ड भोग रहा है। आक्रमणकारियों में से दो को फाँसी भी हो चुकी है।

आज देवसिंह इस दुनिया में नहीं हैं। लेकिन गाँववालों के दिल में उनकी अमिट स्मृतियाँ सुरक्षित हैं। गाँववाले कभी उन्हें भूल नहीं सकते। और, देवसिंह की स्मृति के साथ वह सोने की जंजीर गाँववालों की आँखों में आज भी साकार-सी झूल उठती है, जिसके कारण यह सब अनर्थ हुआ।

अभ्यास

१—ठाकुर देवसिंह के चरित्र में क्या विशेषता थी और गाँववाले क्यों उनका सम्मान करते थे?

२—सोने की जंजीर आज भी गाँववालों की आँखों में साकार-सी क्यों झूल उठती है?

३—देवसिंह गीदड़ धमकियों से भयभीत नहीं होते थे, इसका उदाहरण दीजिए और यह बतलाइए कि इसका परिणाम क्या हुआ?

४—पार्वती के चरित्र पर अपने शब्दों में प्रकाश डालिए।

५—इस कहानी का सारांश अपने शब्दों में लिखिए।

२५—छाया

श्री सुमित्रानन्दन पन्त

[आप का जन्म संवत् १९५७ में कौसानी (अलमोड़ा, उत्तर प्रदेश) में हुआ था। स्वभाव से ही प्रकृति-प्रेमी और भावुक होने के कारण आपने इन्टरमीडियट तक पढ़कर छोड़ दिया और प्रकृति को ही अपनी शिक्षा का केन्द्र बनाया।

आप हलकी लाक्षणिकता के सहारे कोमलता की शक्ति का निदर्शन करने के लिए हिन्दी काव्य जगत् में प्रसिद्ध हैं। आपके भाव सुकुमार, भाषा मधुर और कल्पना कोमल है।

आप खड़ी बोली के युग-प्रवर्त्तक छायावादी कवि हैं। आपकी भाषा में संस्कृत का पुट बड़ा ही रुचिकर होता है। कविता को छन्दों के जटिल बन्धन से मुक्त करने का प्रयत्न आपकी अतुकान्त रचना तथा मुक्त-छन्द योजना में पग-पग पर दृष्टिगोचर होता है। बाह्य प्रकृति और मनोभाव, एवं भाव तथा भाषा का सामंजस्य आपकी रचनाओं को बड़ा ही मनोहारी बना देता है। छायावाद की परिपाटी के अनुसार मनोविकारों को साकार मानकर उनकी चेष्टाओं के चित्रण में की गई आपकी कल्पनाएँ बहुत ही रुचिकर हैं। प्राचीन उपमाओं का नवीन प्रयोग एवं नवीन उपमाओं का सुन्दर प्रयोग आपके काव्य को चमत्कृत बना देता है।

इधर कुछ समय से आपकी लेखनी कल्पना के रंगीन आकाश से उतरकर पृथ्वी के यथार्थ जीवन की अनुभूतियों के चित्रण में विशेष रूप से प्रवृत्त हुई है। यह युग का प्रभाव है।

पल्लव, वीणा, गुंजन, युगान्त, ग्राम्या, युगवाणी आदि आपकी सुप्रसिद्ध कविता पुस्तकें हैं।]

कौन, कौन तुम परिहत-वसना
म्लान - मना, भूपतिता - सी
नियति-वञ्चिता, आश्रय - रहिता,
जर्जरिता पद - दलिता - सी,

× × ×

कहो, कौन हो दमयन्ती-सी,
तुम तरु के नीचे सोई ?
हाय ! तुम्हें भी त्याग गया क्या ?
अलि ! नल-सा निष्ठुर कोई !
पीले-पत्रों की शय्या पर,
तुम विरक्ति-सी, मूर्च्छा-सी,
विजन-विपिन में कौन पड़ी हो
विरह-मलिन, दुख-विधुरा-सी ?
तुम पथ-श्रान्ता द्रुपद-सुता-सी
कौन छिपी हो अलि ! अज्ञात,
तुहिन-अश्रुओं से निज गिनती,
चौदह दुखद वर्ष-दिन रात ?

× × ×

सखि ! भिखारिणी-सी तुम पथ पर
फैलाकर अपना अंचल,
सूखे-पत्रों ही को पा क्या
प्रमुदित रहती हो प्रतिपल ?

× × ×

ऐ अवाक निर्जन की भारति !
कम्पित-अधरों से अनजान,
मर्म मधुर किस सुर में गाती
तुम अरण्य के चिर-आख्यान ?
ऐ अस्पृश्य, अदृश्य, अप्सरसि !
यह छाया-तन, छाया-लोक,
मुझको भी दे दो मायाविनि !
उर की आँखों का आलोक !
ज्योतिर्मय शत-नयन खोल नित,
पुलकित-पलक पसार अपार,
श्रान्त यात्रियों का स्वागत क्या
करती हो तुम बारम्बार ?



श्री सुमित्रानन्दन पन्त

कभी लोभ-सी लम्बी होकर,
कभी तृप्ति-सी हो फिर पीन,
क्या संसृति की अचिर-भूति तुम
सजनि ! नापती हो स्थिति-हीन ?

श्रमित, तपित अवलोक पथिक को
रहतो हो क्या दीन मलीन ?
ऐ विटपी की व्याकुल-प्रेयसि !
विश्व-वेदना में तल्लीन !

दिनकर-कुल में दिव्य-जन्म पा,
बढ़कर नित तरुवर के सङ्ग,
मुरझे पत्रों की साड़ी से
ढक कर अपने कोमल-अङ्ग ;

सदुपदेश-सुमनों से तरु के
गूँथ हृदय का सुरभित हार,
पर-सेवा-रत रहती हो तुम
हरती नित पथ-श्रान्ति अपार ।

हे सखि ! इस पावन-अञ्चल से
मुझको भी निज मुख ढँककर,
अपनी विस्मृत सुखद-गोद में
सोने दो सुख से क्षण भर !

अभ्यास

१—इस कविता में प्रयुक्त उपमाओं की सार्थकता पर अपने विचार व्यक्त कीजिए ।

२—'श्रमित-तपित·····तल्लीन' छन्द का भावार्थ समझाइए ।

३—इस कविता के प्रारंभिक चार छन्दों में प्रयुक्त अलंकारों का विश्लेषण कीजिए ।

४—पन्तजी की भाषा तथा भाव-व्यंजना पर एक छोटा निबंध लिखिए ।

२६—सन्त-साहित्य

श्री परशुराम चतुर्वेदी

[श्री परशुराम चतुर्वेदी का जन्म जवहीं (बलिया, उत्तर प्रदेश) में २५ जुलाई १८९४ को हुआ था। एम० ए० और एल-एल० बी० की परीक्षाएँ उत्तीर्ण कर आप अब तक वकालत कर रहे हैं; किन्तु आपके व्यक्तित्व में वकालत की तराश-खराश नहीं है। वकालत उनकी जीविका का और साहित्य उनकी साधना का क्षेत्र है।

आप अध्ययनशील साहित्यकार हैं। उनकी अध्ययनशीलता ने उन्हें जीवन के कृत्रिम बनाव-शृंगार से मुक्त कर दिया है। वह अपनी रहन-सहन में अत्यन्त सरल, स्वभाव में अत्यन्त संवेदनशील तथा अध्ययन में मनीषी हैं।

सन्त-साहित्य के आप विशेषज्ञ हैं। 'उत्तर भारत की सन्त-परम्परा' नामक आपके मौलिक ग्रंथ पर उत्तर प्रदेशीय सरकार, मध्यप्रदेशीय सरकार, राष्ट्रभाषा परिषद्, बिहार, डालमिया पुरस्कार समिति, दिल्ली तथा हिन्दुस्तानी एकेडमी, उत्तर प्रदेश ने पुरस्कार देकर उन्हें सम्मानित किया है। वैष्णव धर्म, कबीर साहित्य की परख, कबीर-कोश आदि आपकी अन्य सुप्रसिद्ध पुस्तकें हैं।

चतुर्वेदीजी मुख्यतः आलोचक हैं। उनकी आलोचना-पद्धति वैज्ञानिक है। हिन्दी साहित्य का मध्ययुग तथा सन्त-साहित्य उनके अध्ययन के आकर्षण-बिन्दु हैं। आपकी भाषा अत्यन्त सरल, सुबोध और प्रवहमान होती है।]

साधारण तौर पर प्रयोग में आने वाले "संत" शब्द का अभिप्राय किसी भी ऐसे महापुरुष से हो सकता है, जिसे हम दूसरे शब्दों में साधु, सज्जन, सदाचारी, भक्त अथवा महात्मा कहा करते हैं। किन्तु संत-साहित्य में प्रयुक्त "संत" शब्द का अर्थ उससे कुछ भिन्न समझा जाता है। यहाँ पर "संत" शब्द का व्यवहार केवल उन्हीं महान् व्यक्तियों के लिए किया जाता है, जो उक्त गुणों से सम्पन्न होते हुए, अपने कतिपय विशेष विचारों और साधनाओं के कारण, एक विशेष परम्परा के अनुयायी भी माने जाते रहे हैं। यह परम्परा स्पष्ट और विशद् रूप से प्रसिद्ध कबीर साहब के काल से आरम्भ हुई थी और तब से समयानुसार केवल थोड़े-से परिवर्तनों के साथ

आज तक निरन्तर चली आ रही है। इसके अनुयायी अधिकतर "निर्गुण पंथी" "निर्गुनिये" भी कहे जाते हैं। ये निजी अनुभव को ही साधना में सबसे अधिक महत्व देते हैं; सादगी, सदाचार, त्याग, निर्भीकता, हृदय की सचाई और विश्व-प्रेम के ही बराबर उपदेश दिया करते हैं और नाम-स्मरण में अबाधरूप से लगे रहने पर भी अनासक्ति के साथ, अपने आवश्यक लौकिक कार्य करने से मुँह नहीं मोड़ते। समाज में इनका मुख्य उद्देश्य आदर्श एवं व्यवहार का सामंजस्य रखते हुए उसकी भलाई करना है। इन्हें हर प्रकार के आडंबर और विडंबनाओं से सख्त परहेज है। सत-साहित्य का साहित्य शब्द भी काव्य-शास्त्र सम्बन्धी छंद, अलंकार, रीति, रस वा गुण-दोषों के ग्रंथों का ही केवल परिचायक न होकर, संत परम्परा के अनुयायियों द्वारा निर्मित समस्त रचनाओं के समूह के लिए ही व्यवहृत हुआ है। संत-साहित्य की रचनाओं में विशेषरूप से सिद्धांत एवं साधनाओं का निरूपण तथा प्रतिपादन-मात्र आने के कारण उसमें विषय व भाव का ही प्राधान्य रहा है। भाषा को गौण मान, उसकी ओर अधिक ध्यान नहीं दिया गया है। इसी कारण संतों की रचनाओं में अनेक स्थलों पर व्याकरण, पिंगल आदि की अशुद्धियाँ अथवा शैली की शिथिलता का पाया जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं।

अप्रकाशित संत-साहित्य

हिंदी का सन्त-साहित्य अभी अधिकतर अप्रकाशित और हस्तलिखित ही पड़ा हुआ है और इसके कदाचित् कुछ थोड़े से ही अंश द्वारा सर्व-साधारण परिचित हैं। इसके जानकारों के अनुसार कलेवर बहुत विशाल है। हिन्दी भाषा में इस विशेष साहित्य की रचना का सूत्रपात एक प्रकार से तो उसी समय हो चुका था, जब वह स्वयं अपने बाल्यकाल में थी, बल्कि इसके मूल बीज का पता हमें कुछ-न-कुछ उस समय भी लगने लगता है, जब वह अभी अपभ्रंश के गर्भ में अव्यक्त रूप से वर्तमान थी। संत-साहित्य को इस दृष्टि से हम हिन्दी-साहित्य का प्राचीनतम तथा आदिकालीन अंश भी कह सकते हैं। तब से अर्थात् विक्रम की सातवीं शताब्दी के लगभग से ही, कतिपय क्षीण स्रोतों से मिलकर निकली हुई संत-

साहित्य की धारा, मार्ग में आ पड़नेवाले विभिन्न प्रवाहों द्वारा प्रभावित और पुष्ट होती हुई पंद्रहवीं शताब्दी से एक स्पष्ट रूप धारण कर लेती है और तभी से हम उसे एक विशिष्ट नाम देना आरम्भ करते हैं। संत साहित्य का जीवन-काल तो दीर्घ है ही, भाषा से सुपरिचित प्रायः प्रत्येक प्रांत के निवासियों से इसका घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण, इसके क्षेत्र का विस्तार भी कम नहीं है। इसके रचयिताओं में यदि दक्षिण के महाराष्ट्रीय संत नामदेव हैं, तो उत्तर के पंजाबी गुरु नानक भी हैं। उसी प्रकार इसके अन्तर्गत पश्चिम काठियावाड़ के निवासी प्राणनाथ की रचनाएँ सम्मिलित हैं, तो दूसरी ओर पूर्व के बिहार प्रान्तवाले दरिया साहब के ग्रन्थों को भी उसी प्रकार स्थान मिला है। इतने बड़े इस भूखंड के निवासियों के अन्तर्गत अनेक छोटी-बड़ी जातियाँ हैं और भिन्न-भिन्न प्रांतों की भिन्न-भिन्न बोलियाँ भी हैं, जिन्हें हिंदी भाषा के भीतर समाविष्ट किया जाता है। संत-साहित्य के निर्माताओं में उक्त दोनों प्रकार की, विभिन्न प्रकार की जातियों के प्रतिनिधि सम्मिलित हैं, इसमें आनेवाली रचनाओं में उक्त बोलियों के न्यूनाधिक उदाहरण भी मिलते हैं। इस प्रकार देश, जाति एवं बोलियों की दृष्टि से भी इस साहित्य की विशालता स्वयं सिद्ध है।

संत-साहित्य के मूल-स्रोत

हिंदी संत-साहित्य के जिन मूल-स्रोतों की ओर ऊपर संकेत किया गया है, उनमें योगाचार, तंत्र-शास्त्र, हठयोग, वाममार्ग आदि सम्बन्धी प्रचलित सिद्धांतों एवं साधनाओं पर आश्रित सहजयानी बौद्धों और सिद्धों के दोहे और चर्या गीतिकाएँ भी आती हैं। इन रचनाओं के साथ हिन्दी के सन्त-साहित्य का मिलान करने पर स्पष्ट हो जाता है कि बौद्धों की साम्प्रदायिक स्वीकृतियों के अतिरिक्त प्रायः सभी बातें केवल शब्दों के रूपान्तर मात्र के साथ, ज्यों-की-त्यों दोनों में आ जाती हैं। प्रायः वैसे ही विषय, वैसी ही उक्तियाँ, वैसी ही फटकारें और वैसी ही चेतावनियाँ हैं तथा एक ही समान प्रेरणाओं द्वारा प्रेरित हो, कठोर उद्गारों के रूप में प्रकट की गयी हैं। आगे आने वाले ईश्वरवादी नाथ-पंथियों की रचनाओं में स्वभावतः कुछ और

भी अधिक समानता दिखने लगती हैं और वारकरी संप्रदाय के निर्गुण-पंथी महाराष्ट्रीय संतों के हिन्दी पदों को देखकर यह स्पष्ट धारणा हो जाती है कि उन रचनाओं के अन्तर्गत संत-साहित्य का विकसित रूप भी कुछ अंशों तक वर्तमान है। कबीर साहब के समय तक संत-साहित्य की रचनाओं पर जैन साधना, इस्लाम धर्म के सूफीवाद तथा रामावत संप्रदाय के भक्तिवाद का भी पूर्ण प्रभाव पड़ चुका था। यदि उसमें किसी बात की कमी रह गयी थी, तो वह भी केवल उसमें आनेवाली ईसाई मत की कतिपय स्थूल बातें तथा योग एवं वेदान्त दर्शन के कुछ विचार व साधना पद्धतियाँ, जो आगे आनेवाले संतों की शिक्षा-दीक्षा, सत्संग तथा अन्य परिस्थितियों के कारण उनकी कृतियों में समाविष्ट हो गईं। आगे आनेवाले संतों में से कई एक का झुकाव कुछ सीमा तक सगुणवाद की ओर भी हो चला था, जिसके कारण इधर के सन्त-साहित्य में कुछ विषमता के भी चिह्न आ गए हैं।

हिन्दी-सन्त साहित्य के निर्माताओं में कुछ ऐसी उत्कृष्ट और अलौकिक विभूतियों का आविर्भाव हुआ, जिनकी जोड़ के महापुरुषों को अन्यत्र कहीं भी उपलब्ध करना कठिन है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, आदर्श और व्यवहार का सामंजस्य संत मत की सबसे बड़ी और महत्वपूर्ण विशेषता है और इसी कारण हमारे सभी संतों ने कथनी एवं रहनी अथवा करनी की पूर्ण एकरूपता पर विशेष जोर दिया है तथा इसी कारण उसे स्वयं अपने व्यक्तिगत जीवन के अंतर्गत कार्य में परिणत करके भी दिखला दिया है। खेद है कि हमारे संतों की प्रामाणिक जीवनियों के लिए पूर्ण सामग्री नहीं मिलती और जो कुछ इत्तिवृत्त उनके विषय में उपलब्ध हैं, उनका अधिक अंश चमत्कार भरी कहानियों से ही भरा पड़ा है। तो भी जो कुछ बातें हमारे सामने आज तक आ सकी हैं, उनके अनुसार कम-से-कम एक मोटे तौर पर ही क्यों न हो, हम उनके विषय में अपनी धारणा कुछ निश्चित कर लेते हैं और इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि उन संतों का जीवन भी वैसा ही उच्च और उज्ज्वल अवश्य रहा होगा, जैसा उनकी रचना में आये हुए विचारों द्वारा लक्षित होता है।

संत कबीर

उदाहरण के लिए कबीर साहब की रचनाओं में जो तन्मयता आत्मनिर्भरता, निर्भीकता तथा स्पष्टवादिता के भाव प्रकट होते हैं, उन्हें हम उनकी उपलब्ध जीवनियों द्वारा भी प्रमाणित कर सकते हैं और भली-भाँति देख सकते हैं कि उनके कथन एवं कार्य में किस प्रकार समानता थी। उन्होंने अपने निजी अनुभवों द्वारा प्राप्त सत्य के आलोक में ही अपना सारा जीवन व्यतीत किया और जब तक जीवित रहे, एक सच्चे जीवनमुक्त के रूप में समाज के भीतर कर्त्तव्यों का पालन करते रहे और वैसे ही जीवनयापन के वे उपदेश भी देते रहे। उसी प्रकार संत रैदास की निस्पृहता, गुरु नानक की आत्म-विस्मृति, दादू दयाल की भावुकता, प्राणनाथ की प्रेमरूपता, मलूकदास की मस्ती, तुलसी साहब की तर्कपटुता, स्वामी शिवदयाल की रहस्य-वादिता तथा चरणदास के शुद्ध भक्ति भाव, पलटू साहब का आत्म-निवेदन एवं परमहंस शिवनारायण के सदाचार के नमूने हमें उनकी रहनी और रचनाओं में एक ही प्रकार व्यवहृत वा उद्धृत समझ पड़ते हैं। इन संतों को व्यर्थ के प्रपंचों में पड़कर समय व्यतीत करने तथा समाज एवं अपने को भी धोखा देने के प्रति बड़ी घृणा थी। ये आध्यात्मिक साधना में निरत रहना, आत्मोन्नति का अनुभव करना तथा सर्वत्र ओतप्रोत किसी व्यापक अलौकिक वा अनिर्वचनीय शक्ति की उपलब्धि द्वारा अपने भीतर और बाहर सब कहीं एक रसपूर्ण आनन्द में मग्न रहना तो अपना ध्येय मानते ही थे, इसके कारण इन्हें समाज के बीच कर्त्तव्यपालन में कभी बाधा नहीं दिखायी पड़ी। ये अपनी आध्यात्मिक साधना द्वारा अपने को संसार के सुधार वा काया-पलट के लिए शिक्षित करते थे और इसी कारण, इन्होंने मरणोपर्यंत सुख एवं आनन्द प्राप्ति की अपेक्षा वर्तमान जीवन में ही रहकर उसके अनुभव का आदर्श सामने रखा।

संत-साहित्य के अतिरिक्त

हिंदी-साहित्य के अन्तर्गत, संत-साहित्य के अतिरिक्त रीति-शास्त्र, भक्ति-भाव, प्रेमगाथा, वीरोल्लास आदि कई प्रकार के आधारों पर की गयी रचनाओं का समावेश है। इनमें से कम-से-कम

रीति-शास्त्र और वीरोल्लास सम्बन्धी प्रायः सारे ग्रन्थ, साहित्य-निरूपण अथवा किसी व्यक्ति, वंश वा जाति की प्रशंसा के उद्देश्य से ही निर्मित किये गये मिलते हैं। इसी लिए उनमें या तो विषयों की निर्धारित सीमा अथवा वर्ण्य से अधिक वर्णन-शैली की ओर ही ध्यान देने की प्रवृत्ति दीख पड़ती है। इसके प्रेमगाथा एवं भक्तिभाव संबंधी साहित्य में या तो किन्हीं सरल सुबोध कहानियों द्वारा गूढ़ प्रेम के रहस्यों का उद्घाटन मिलता है अथवा राम, कृष्ण वा अन्य उपास्य देवों की गुणावली वा चरित्रावली के वर्णनों द्वारा व्यक्त की गई भक्तिभावना का प्रदर्शन-मात्र मिलता है। इस प्रकार ऐसी रचनाओं में मोटे तौर पर देखने से विषय-प्रतिपादन, गुणानुवाद, आत्म-निवेदन एवं मनोरंजन के सिवाय और कुछ भी नहीं दिखाई पड़ता है। इनकी सीमाएँ एक प्रकार से व्यक्ति वा विषय विशेष तक ही संकुचित समझी जा सकती हैं। इनमें आदर्श मानवीय जीवन एवं विश्व-कल्याण के उद्देश्य की प्रेरणा द्वारा प्रस्तुत की गई रचनाओं का समुचित समावेश नहीं पाया जाता।

संत-साहित्य का उद्देश्य

संत-साहित्य का निर्माण, एक विशेष उद्देश्य को लेकर तथा एक विशेष आदर्श को सामने रख कर किया गया है। प्रतिदिन अनुभव में आनेवाली वस्तुओं एवं व्यवहारों की वर्तमान स्थिति से असंतुष्ट हो उनकी वास्तविकता का स्थान उपलब्ध करना ही उसके निर्माताओं का उद्देश्य रहा और समुचित आवश्यक साधनों द्वारा उससे पूर्ण परिचित हो, उसके अनुसार उन्होंने अपना जीवन-सम्बन्धी दृष्टिकोण स्थिर किया। वस्तुस्थिति की सच्ची परख होते ही इन्हें एक मात्र नित्य एवं शाश्वत सत्य की अनुभूति हुई जिस कारण इनके जीवन-सम्बन्धी सिद्धान्तों में आमूल परिवर्तन हो गया और सारी बातें विशेष रूप एवं रंग में दीख पड़ने लगीं। संतों ने अपनी रचनाओं के अन्तर्गत आनेवाली आध्यात्मिक, धार्मिक, व्यक्तिगत एवं सामाजिक प्रायः सभी प्रकार की समस्याओं का समाधान, उसी निश्चित किये गए दृष्टिकोण के अनुसार ही करने की चेष्टा की है। उक्त नित्य सत्य के साथ स्वभावतः एकात्मता स्थापित करने के कारण

इनका आदर्श भी अत्यंत उच्च एवं व्यापक बन गया है। संतों ने किसी भी धर्म के मौलिक नियमों की अवहेलना नहीं की है, बल्कि उन्हें भली-भाँति समझने का अनुरोध किया है।

अभ्यास

१—सन्त-साहित्य में प्रयुक्त 'सन्त' और 'साहित्य' शब्द की विशेषता पर प्रकाश डालिए।

२—सन्त-साहित्य को हिन्दी का आदिकालीन अंश क्यों माना जाता है और इसके व्यापक क्षेत्र का प्रमाण क्या है?

३—कबीर के कथन और कार्य में किस प्रकार की समानता का अनुमान किया जाता है और क्यों?

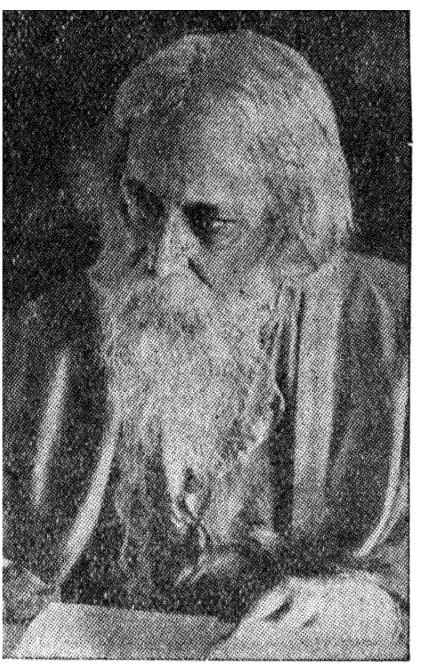
४—सन्त-साहित्य के उद्देश्य की पृष्ठभूमि अपने शब्दों में समझाइए।

२७—सड़क की बात

डॉ० रवीन्द्रनाथ ठाकुर

[विश्वविख्यात कवीन्द्र रवीन्द्र का जन्म कलकत्ते में ७ मई, १८६१ को हुआ था। आपका देहान्त ७ अगस्त १९४१ को हुआ।

डॉ० रवीन्द्रनाथ की प्रतिभा बहुमुखी थी। वे श्रेष्ठ कवि नाटककार, कहानीकार, उपन्यासकार, गायक, वक्ता और अभिनेता थे।



'गीतांजलि' आपकी सर्वश्रेष्ठ कविता-पुस्तक मानी जाती है। इसी पुस्तक पर उन्हें विश्वविख्यात नोबेल पुरस्कार मिला था, जो संसार का सर्वश्रेष्ठ पुरस्कार है। आपकी पुस्तकों का समादर न केवल भारत, प्रत्युत विदेशों में भी हुआ। आपकी अनेक पुस्तकों के अनुवाद संसार की कई भाषाओं में हो चुके हैं।

शान्ति-निकेतन की स्थापना सन् १९०१ में आपने ही की थी, जो आजकल एक विश्वविद्यालय का रूप ले चुका है।

प्रस्तुत आत्मकथा में सड़क का मनोरंजक वर्णन है।]

मैं सड़क हूँ! अहिल्या जैसे मुनि के शाप से पाषाण हो गई थी, मैं भी वैसे ही मानो किसी के शाप से चिर-निद्रित बड़े भारी अजगर की तरह वन-पर्वतों में होकर, पेड़ों की छाया के नीचे से, सुविस्तृत प्रान्तर के ऊपर से, देश-देशान्तर को वेष्टन करती हुई बहुत दिनों से जड़-निद्रा में सोई हुई हूँ। असीम धैर्य के साथ धूल में लोटकर शाप की अंतिम घड़ियों की प्रतीक्षा कर रही हूँ। मैं हमेशा

से स्थिर हूँ, अचल हूँ, हमेशा से एक ही करवट से सो रही हूँ; किन्तु फिर भी मुझे एक घड़ी के लिए भी विश्राम नहीं, इतनी भी छुट्टी नहीं कि अपनी इस कठिन और सूखी सेज पर एक भी कोमल स्निग्ध हरी घास उगा सकूँ। इतना भी समय नहीं कि अपने सिर-हाने के पास बहुत छोटा-सा नीले रंग का एक वनफूल खिला सकूँ। बोल नहीं सकती, पर अन्धे की तरह सभी कुछ अनुभव कर रही हूँ। रात और दिन पैरों की आहट, सिर्फ पैरों की आहट! मेरी इस जड़-निद्रा में हजारों-लाखों चरणों के शब्द दिन-रात दुःस्वप्न की तरह घूमते रहते हैं। मैं चरणों के स्पर्श से उनके हृदय को पढ़ सकती हूँ। मैं समझ जाती हूँ, कौन घर जा रहा है, कौन काम पर जा रहा है, कौन आराम के लिए जा रहा है, कौन उत्सव में जा रहा है और कौन श्मशान को जा रहा है। जिसके सुख की गृहस्थी है, स्नेह की छाया है, वह कदम पर सुख की तस्वीर खींचता चलता है, हर कदम पर आशा के बीज बोता जाता है। जान पड़ता है, जहाँ-जहाँ उसके पैर पड़े, मानो वहाँ क्षण-भर में ही एक-एक लता अंकुरित और पुष्पित हो उठेगी। जिसके घर नहीं, आश्रय नहीं, उसके पद-क्षेप में न आशा है, न अर्थ है। उसके कदम में न दायाँ है, न बायाँ है, उसके पैर बहते रहते हैं, मैं चलूँ तो क्यों और ठहरूँ तो किसलिए? उसके पद-क्षेप से मेरी सूखी धूल मानो और भी सूख जाती है।

दुनिया की कोई भी कहानी मैं पूरी नहीं सुन पाती। आज सैकड़ों हजारों वर्षों से मैं लाखों-करोड़ों लोगों की कितनी हँसी, कितने गाने, कितनी बातें सुनती आई हूँ; पर थोड़ी-सी सुन पाती हूँ। बाकी को सुनने के लिए कान खड़े करती हूँ, तब देखती हूँ, वह आदमी ही अब नहीं रहा। ऐसी कितने ही बरसों की कितनी टूटी-फूटी बातें, कितने बिखरे हुए गाने, मेरी धूल के साथ धूल बन गए हैं, मेरी धूल के साथ उड़ते रहते हैं, इसे क्या कोई जान सकता है। वह सुनो, कोई गा रही है—"कहूँ-कहूँ पर कह नहीं पाई।"—अह, जरा ठहरो, गाने को पूरा कर जाओ, पूरी बात सुन लूँ! पर कहाँ ठहरी वह? गाते-गाते न जाने कहाँ चली गई, अन्त तक मैं न सुन पाई। यह एक ही पद आधी रात तक मेरे कानों में गूँजता रहेगा। मन-ही-मन

सोचूँगी, वह कौन थी ? कहाँ जा रही है, न जाने ! जो बात कह नहीं पाई है, क्या उसे ही फिर कहने जा रही है ? अब की जब सड़क पर फिर उससे भेंट होगी, वह जब मुँह उठाकर इसके मुँह की तरफ ताकेगा, तब कहूँ-कहूँ करके फिर भी यदि न कह पाई तो ! तब सिर नीचा करके मुँह फिरा करके बहुत धीरे-धीरे लौटते समय फिर भी यदि वह गाये—"कहुँ-कहूँ पर कह नहीं पाई।"

समाप्ति और स्थायित्व कहीं होगा, पर मुझे तो नहीं दिखाई देता। एक चरण-चिह्न को भी तो मैं अधिक देर तक थाम कर नहीं रख सकती। अविश्राम चिह्न पड़ रहे हैं, फिर नये पैर आकर अन्य पैरों के चिह्नों को पोंछ जाते हैं। जो चला जाता है, वह तो पीछे कुछ छोड़ ही नहीं जाता; यदि उसके सिर के बोझे से कुछ मिलता भी है तो सहस्र चरणों के तले लगातार कुचला जाकर कुछ ही देर में धूल में मिल जाता है। परन्तु एक बात अब भी देख रही हूँ। किसी-किसी महापुरुष के पुण्य-स्तूप के अन्दर ऐसा एक अमर बीज पड़ गया है जो धूल में पड़कर अंकुरित और वर्द्धित होकर मेरी बगल में स्थायी-रूप से विराज रहा है और नये पथिकों को छाया प्रदान कर रहा है।

मैं किसी का भी लक्ष्य नहीं हूँ। मैं सबका उपाय-मात्र हूँ। मैं किसी का घर नहीं हूँ, पर सबको घर ले जाती हूँ। मुझे दिन-रात का यह शोक रहता है कि मुझ पर कोई चरण नहीं रखता। मुझ पर कोई खड़ा रहना नहीं चाहता। जिनका घर बहुत दूर है, वे मुझे ही कोसते और शाप देते हैं। मैं जो उन्हें परम धैर्य के साथ उनके घर के द्वार तक पहुँचा देती हूँ, उसके लिए कृतज्ञता कहाँ पाती हूँ ? वे घर जाकर आराम करते हैं। घर पर आनन्द लूटते हैं। घर में उनका सुख-सम्मिलन होता है और मुझ पर केवल थकावट का भाव दिखलाते हैं। केवल अनिच्छा-कृत-श्रम हुआ समझते हैं। केवल विच्छेद का कारण मानते हैं। क्या इसी तरह बराबर दूर से ही घर के झरोखों से पंख पसारकर आती हुई मधुर हास्य-लहरी मेरे पास आते ही शून्य में अदृश्य हो जायगी ? घर के उस आनन्द की एक बूँद भी मैं नहीं पाऊँगी ?

कभी-कभी वह भी पाती हूँ। छोटे-छोटे बच्चे हँसते-हँसते

शोर-गुल मचाते-मचाते मेरे पास आकर खेलते हैं। अपने घर का आनन्द वे रास्ते में ले आते हैं। उनके पिता का आशीर्वाद, माता का स्नेह घर से बाहर निकलकर सड़क पर आकर भी मानो घर बना देता है। मेरी धूल में वे स्नेह दे जाते हैं। मेरी धूल को वे वश में कर लेते हैं और अपने छोटे-छोटे कोमल हाथों से उसकी ढेरी पर मृदु-मृदु थपकियाँ देकर परम स्नेह से उसे सुलाया चाहते हैं। निर्मल हृदय लेकर बैठ-बैठ उसके साथ बात करते हैं। हाय-हाय, इतना स्नेह पाकर भी वह धूल उसका उत्तर नहीं दे सकती!

छोटे-छोटे कोमल पाँव जब मेरे ऊपर से चले जाते हैं, तब अपने को मैं बड़ी कठिन अनुभव करती हूँ। मालूम होता है, उनके पावों में लगती होगी। उसी समय मुझे कुसुम कली की तरह कोमल होने की साध होती है।

अरुण चरण ऐसी कठोर धरती पर क्यों चलते हैं! पर वे यदि न चलते तो शायद कहीं भी हरी-हरी घास पैदा न होती!

प्रतिदिन नियमित रूप से जो मेरे ऊपर से चलते हैं उन्हें मैं अच्छी तरह पहचानती हूँ। पर वे नहीं जानते कि मैं उनके लिए प्रतीक्षा किया करती हूँ। मैं मन-ही-मन उसकी मूर्ति की कल्पना कर लेती हूँ। बहुत दिन हुए ऐसी ही एक प्रतिमा अपने कोमल चरणों को लेकर दोपहर को बहुत दूर से आती, छोटे-छोटे दो नूपुर रुनझुन-रुनझुन करके उसके पाँवों में रो-रोकर बजते। शायद उसके ओंठ बोलने के ओंठ न थे, शायद उसकी बड़ी-बड़ी आँखें सन्ध्या के आकाश की भाँति म्लान दृष्टि से मुँह की ओर देखती रहती थीं। उस चबूतरेवाले वटवृक्ष की बाईं तरफ जहाँ से मेरी एक शाखा गाँव की ओर चली गई है, वहाँ वह पेड़ के नीचे हारी-थकी चुपचाप खड़ी रहती। दूसरा एक कोई दिन-भर का काम पूरा कर के अनमने मन से गाना-गाता हुआ उस समय गाँव की ओर चला जाता। वह शायद किसी भी तरफ ताकता न था। कहीं भी ठहरता न था, सीधा घर के द्वार पर जाकर अपना पूर्वी गाना समाप्त करता था।

उसके चले जाने पर वह बालिका थके हुए पैरों से फिर उसी रास्ते से लौट जाती, जिससे वह आई थी। बालिका जब लौटती, तब मालूम होता, अन्धकार हो आया है। सन्ध्या के अन्धकार का

ठंडा स्पर्श मैं सारे अंगों पर अनुभव करने लगती। तब गोधूलि के समय की कौओं की काँय-काँय बिलकुल थम जाती; पथिकों का आना-जाना करीब-करीब बन्द-सा हो जाता। सन्ध्या की पवन से बाँस के झाड़ रह-रहकर झरझर-झरझर शब्द कर उठते। इसी तरह वह प्रतिदिन धीरे-धीरे आती और वैसे ही धीरे-धीरे चली जाती।

एक दिन फागुन के अन्त के दिनों में दोपहर को जब आम के बौर हवा से झड़ रहे थे, तब वह दूसरा जो आता था, न आया। उस दिन बहुत रात बीते बालिका घर लौट गई। जैसे बीच-बीच में पेड़ों से सूखे पत्ते झर रहे थे, वैसे ही कभी-कभी दो एक बूँद आँसू मेरी नीरस तप्त धूलि पर पड़ते और सूख जाते थे। फिर उसके दूसरे ही दिन दोपहर को वह बालिका उसी पेड़ के नीचे आकर खड़ी हुई, पर वह उस दिन भी न आया। फिर रात को वह धीरे-धीरे घर की तरफ चल दी। कुछ दूर जाकर उससे चला न गया। मेरे ऊपर धूल पर लोट गई। दोनों हाथों से मुँह ढककर छाती फाड़-फाड़कर रोने लगी। कौन हो बिटिया? इस निर्जन रात्रि में भी कहीं कोई मेरी छाती पर आश्रय लेने आता है! तू जिसके पास से लौटी है वह क्या मुझसे भी कठोर है? तूने जिसे पुकार कर उत्तर नहीं पाया, क्या वह मुझसे भी बढ़कर गूँगा है? तूने जिसकी तरफ देखा है, क्या वह मुझसे भी ज्यादा अंधा है? बालिका उठ बैठी, खड़ी हो गई, आँखें पोंछ डालीं,—सड़क छोड़कर चली गई। शायद वह घर लौट गई, शायद वह अब भी शान्त-मुख से घर का काम-धन्धा करती होगी,—शायद वह किसी से भी अपने किसी दुःख की बात नहीं करती, सिर्फ किसी-किसी दिन सन्ध्या के समय घर के आँगन में चन्द्रमा की चाँदनी में पैर फैलाकर बैठी रहती है। कोई बुलाता है तो चौंक पड़ती और झट उठकर भीतर चली जाती है। किन्तु मैंने उसके दूसरे दिन से आज तक फिर कभी उसके चरणों के स्पर्श का अनुभव नहीं किया।

ऐसे कितने ही पैरों के शब्द नीरव हो गए हैं। मैं क्या इतनी बातें याद रख सकती हूँ? सिर्फ उन पैरों की करुण नूपुर ध्वनि अब भी कभी-कभी याद आ जाती है। पर मुझे क्या घड़ी-भर शोक करने

की छुट्टी मिलती है ? शोक किस-किस के लिए करूँ ? ऐसे ही कितने आते हैं और चले जाते हैं।

कैसी कड़ी धूप है ! उफ्-उफ् ! एक-एक उसाँस छोड़ती हूँ और तपी हुई धूल सुनील आकाश को धुँआधार करके उड़ी चली जाती है। अमीर और गरीब सुखी और दुखी यौवन और बुढ़ापा, हँसी और रोना, जन्म और मृत्यु सभी मेरे ऊपर से एक ही उसाँस में धूल के स्रोत की तरह उड़े जा रहे हैं। इसी लिए सड़क को न हँसी है न रोना। घर ही बीते हुए पर शोक करता है, वर्तमान के लिए सोचता है, भविष्य के लिए आशा में डूबा रहता है, परन्तु सड़क ? वह तो वर्तमान के प्रत्येक पल में सैकड़ों-हजारों नये-नये अभ्यागतों को लेकर ही व्यस्त है। ऐसे स्थान पर अपने पद-गौरव पर विश्वास करके अत्यन्त धैर्य के साथ पैर रखता हुआ कौन अपने चिर चरण-चिह्न को रख जाने का प्रयास करता है ! जिनके लिए यहाँ की हवा में तुम दीर्घ निःश्वास छोड़ जाते हो, तुम्हारे चले जाने पर क्या वे तुम्हारे पीछे तुम्हारे लिए विलाप करते रहेंगे ? तुम्हारे वे दीर्घ निःश्वास क्या नये अतिथि की आँखों में आँसू खींच लायेंगे ? हवा पर हवा क्या टिक सकती है ? नहीं-नहीं, वृथा चेष्टा है। मैं कुछ पड़ा रहने नहीं देती, हँसती भी नहीं, रोती भी नहीं। मैं ही सिर्फ पड़ी हुई हूँ।

अभ्यास

१—जानेवालों के हृदय को उनके चरण-स्पर्श से सड़क कैसे पढ़ सकती है ?

२—सड़क संसार की कोई भी कहानी पूरी क्यों नहीं सुन पाती ?
सड़क मधुर हास्य-लहरी और आनन्द की बूँद का अनुभव कब और कैसे करती है ?

३—अर्थ बताइए और अपने वाक्यों में इसका प्रयोग कीजिए:—
सम्मिलन, अरुण, म्लान, अनिच्छा अंकुरित, वेष्टन।

४—वाक्य-विश्लेषण कीजिए :—
"किसी-किसी महापुरुष के पुण्य-स्तूप के अन्दर ऐसा एक अमर बीज पड़ गया है, जो धूल में अंकुरित और वर्द्धित होकर मेरी बगल में स्थायी रूप से विराज रहा है और नये पथिकों को छाया प्रदान कर रहा है।'

२८—साहित्य की महत्ता

आचार्य पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी

[आचार्य पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी का जन्म दौलतपुर (रायबरेली, उत्तर-प्रदेश) में वैशाख शुक्ल ४, संवत् १९२१ में और देहान्त संवत् १९९५ में हुआ।

हिन्दी की सर्वश्रेष्ठ और प्राचीन मासिक पत्रिका 'सरस्वती' का आपने लगभग बीस वर्ष तक सफल संपादन कर हिन्दी की खड़ीबोली के विकास में इतना योगदान दिया कि आपका युग ही 'द्विवेदी-युग' के नाम से प्रसिद्ध हो गया। आप उद्भट समीक्षक और उच्चकोटि के निबन्धकार थे।

निबन्ध और समीक्षा-सम्बन्धी आपकी दर्जनों पुस्तकें आज तक हिन्दी-संसार में प्रकाश-स्तम्भ का काम दे रही हैं।

अँगरेजी, मराठी, गुजराती और उर्दू का भी द्विवेदीजी को अच्छा ज्ञान था। द्विवेदीजी प्रारम्भ में रेलवे के तारघर में काम करते थे और उन्होंने तार सम्बन्धी एक पुस्तक भी अँगरेजी में लिखी थी। तारघर की नौकरी छोड़कर ही आप 'सरस्वती' के सपादक हुए थे और अपनी हिन्दी-सेवा के कारण सदा के लिए अमर हो गए।]

ज्ञान-राशि के संचित कोश का नाम ही साहित्य है। सब तरह के भावों को प्रकट करने की योग्यता रखनेवाली और निर्दोष होने पर भी यदि कोई भाषा अपना निज का साहित्य नहीं रखती, तो वह रूपवती भिखारिन की तरह कदापि आदरणीय नहीं हो सकती। उसकी शोभा, उसकी श्री-संपन्नता, उसकी मान मर्यादा उसके साहित्य पर ही अवलम्बित रहती है। जाति-विशेष के उत्कर्षापकर्ष का, उसके उच्च-नीच भावों का, उसके धार्मिक विचारों और सामाजिक संगठन का, उसके ऐतिहासिक घटनाचक्रों और राजनैतिक स्थितियों का प्रतिबिंब देखने को यदि कहीं मिल सकता है, तो उसके ग्रंथ-साहित्य में मिल सकता है। सामाजिक शक्ति या सजीवता, सामाजिक अशक्ति या निर्जीवता और सामाजिक सभ्यता तथा असभ्यता का निर्णायक एकमात्र साहित्य है। जिस जाति-विशेष में साहित्य का अभाव या

उसकी न्यूनता आपको देख पड़े, आप निःसंदेह निश्चित समझिए कि वह जाति असभ्य किंवा अपूर्ण सभ्य है। जिस जाति की सामाजिक अवस्था जैसी होती है, उसका साहित्य भी वैसा ही होता है। जातियों की क्षमता और सजीवता यदि कहीं प्रत्यक्ष देखने को मिल सकती है, तो उनके साहित्य रूपी दर्पण ही में मिल सकती है। इस दर्पण के सामने जाते ही हमें यह तत्काल मालूम हो जाता है कि अमुक जाति की जीवनी-शक्ति इस समय कितनी या कैसी है और भूतकाल में कितनी और कैसी थी।

आप भोजन करना बंद कर दीजिए या कम कर दीजिए, आपका शरीर क्षीण हो जायगा और अचिरात् नाशोन्मुख होने लगेगा। इस तरह आप साहित्य के रसास्वादन से अपने मस्तिष्क को वंचित कर दीजिए, वह निष्क्रिय होकर धीरे-धीरे किसी काम का न रह जायगा। बात यह है कि शरीर के जिस अंग का जो काम है, वह उससे यदि न लिया जाय, तो उसकी वह काम करने की शक्ति नष्ट हुए बिना नहीं रहती। शरीर का खाद्य भोजनीय पदार्थ है और मस्तिष्क का खाद्य साहित्य। अतएव यदि हम अपने मस्तिष्क को निष्क्रिय और कालांतर में निर्जीव-सा नहीं कर डालना चाहते, तो हमें साहित्य का सतत सेवन करना चाहिए और उसमें नवीनता तथा पौष्टिकता लाने के लिए उसका उत्पादन भी करते जाना चाहिए। पर याद रखिए, विकृत भोजन से जैसे शरीर रुग्ण होकर बिगड़ जाता है, उसी तरह विकृत साहित्य से मस्तिष्क भी विकार-ग्रस्त होकर रोगी हो जाता है। मस्तिष्क का बलवान् और शक्ति-संपन्न होना अच्छे ही साहित्य पर अवलंबित है। अतएव यह बात निर्भ्रान्त है कि मस्तिष्क के यथेष्ट विकास का एकमात्र साधन अच्छा साहित्य है। यदि हमें जीवित रहना है और सभ्यता की दौड़ में अन्य जातियों की बराबरी करना है, तो हमें श्रमपूर्वक, बड़े उत्साह से, सत्साहित्य का उत्पादन और प्राचीन साहित्य की रक्षा करनी चाहिए। और यदि हम अपने मानसिक जीवन की हत्या करके अपनी वर्तमान दयनीय दशा में पड़े रहना ही अच्छा समझते हों तो आज ही साहित्य-निर्माण के आडंबर का विसर्जन कर डालना चाहिए।

आँख उठाकर जरा और देशों तथा और जातियों की ओर तो देखिए। आप देखेंगे कि साहित्य ने वहाँ की सामाजिक और राजकीय स्थितियों में कैसे-कैसे परिवर्तन कर डाले हैं। साहित्य ने वहाँ समाज की दशा कुछ-की-कुछ कर दी है; शासन-प्रबंध में बड़े-बड़े उथल-पुथल कर डाले हैं; यहाँ तक कि अनुदार और धार्मिक भावों को भी जड़ से उखाड़ फेंका है। साहित्य में जो शक्ति छिपी रहती है, वह तोप, तलवार और बम के गोलों में भी नहीं पाई जाती। योरप में हानिकारिणी धार्मिक रूढ़ियों का उत्पादन साहित्य ही ने किया है; जातीय स्वातंत्र्य के बीज उसी ने बोये हैं; व्यक्तिगत स्वातंत्र्य के भावों को उसी ने पाला, पोसा और बढ़ाया है; पतित देशों का पुनरुत्थान भी उसी ने किया है। पोप की प्रभुता को किसने कम किया है? फ्रांस में प्रजा की सत्ता का उत्पादन और उन्नयन किसने किया है? पादाक्रांत इटली का मस्तक किसने ऊँचा उठाया है? साहित्य ने, साहित्य ने, साहित्य ने। जिस साहित्य में इतनी शक्ति है, जो साहित्य मुर्दों को भी जिन्दा करनेवाली संजीवनी औषधि का आकर है, जो साहित्य पतितों को उठानेवाला और उत्थितों के मस्तक को उन्नत करनेवाला है, उसके उत्पादन और संवर्धन की चेष्टा जो जाति नहीं करती, वह अज्ञानांधकार के गर्त में पड़ी रहकर किसी दिन अपना अस्तित्व ही खो बैठती है। अतएव समर्थ होकर भी जो मनुष्य इतने महत्त्वशाली साहित्य की सेवा और अभिवृद्धि नहीं करता अथवा उससे अनुराग नहीं रखता, वह समाजद्रोही है, वह देशद्रोही है, वह जातिद्रोही है, किंबहुना वह आत्मद्रोही और आत्महंता भी है।

कभी-कभी कोई समृद्ध भाषा अपने ऐश्वर्य के बल पर दूसरी-दूसरी भाषाओं पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लेती है, जैसा जर्मनी, रूस और इटली आदि देशों की भाषाओं पर फ्रेंच भाषा ने बहुत समय तक कर लिया था। स्वयं अंगरेजी भाषा भी फ्रेंच और लैटिन भाषाओं के दबाव से नहीं बच सकी। कभी-कभी यह दशा राजनैतिक प्रभुत्व के कारण भी उपस्थित हो जाती है और विजित देशों की भाषाओं को जेता जाति की भाषा दबा लेती है। तब उनके साहित्य का उत्पादन यदि बंद नहीं हो जाता, तो उसकी वृद्धि की

गति मंद जरूर पड़ जाती है। यह अस्वाभाविक दबाव सदा नहीं बना रहता। इस प्रकार की दबी या अधःपतित भाषाएँ बोलनेवाले जब होश में आते हैं, तब वे इस अनैसर्गिक आच्छादन को दूर फेंक देते हैं। जर्मनी, रूस, इटली और स्वयं इँगलैंड चिरकाल तक फ्रेंच और लैटिन भाषाओं के मायाजाल में फँसे थे। पर बहुत समय हुआ, उस जाल को उन्होंने तोड़ डाला। अब वे अपनी ही भाषा के साहित्य की अभिवृद्धि करते हैं; कभी भूलकर भी विदेशी भाषाओं में ग्रंथ-रचना करने का विचार नहीं करते। बात यह है कि अपनी भाषा का साहित्य ही जाति और स्वदेश की उन्नति का साधक है। विदेशी भाषा का चूड़ांत ज्ञान प्राप्त कर लेने और उसमें महत्त्वपूर्ण ग्रंथ-रचना करने पर भी विशेष सफलता नहीं प्राप्त हो सकती और अपने देश को विशेष लाभ नहीं पहुँच सकता। अपनी माँ को निःसहाय, निरुपाय और निर्धन दशा में छोड़कर जो मनुष्य दूसरे की माँ की सेवा-शुश्रूषा-रत होता है, उस अधम की कृतघ्नता का क्या प्रायश्चित्त होना चाहिए, इसका निर्णय कोई मनु और याज्ञवल्क्य ही कर सकता है।

मेरा यह मतलब कदापि नहीं कि विदेशी भाषाएँ सीखनी ही न चाहिएँ। नहीं, आवश्यकता, अनुकूलता, अवसर और अवकाश होने पर हमें एक नहीं, अनेक भाषाएँ सीखकर ज्ञानार्जन करना चाहिए; द्वेष किसी भाषा से न करना चाहिए। ज्ञान कहीं भी मिलता हो, उसे ग्रहण ही कर लेना चाहिए। परन्तु अपनी भाषा और उसी के साहित्य को प्रधानता देनी चाहिए; क्योंकि अपना, अपने देश का अपनी जाति का उपकार और कल्याण अपनी ही भाषा के साहित्य की उन्नति से हो सकता है। ज्ञान, विज्ञान, धर्म और राजनीति की भाषा सदैव लोकभाषा ही होनी चाहिए। अतएव अपनी भाषा के साहित्य की सेवा और अभिवृद्धि करना, सभी दृष्टियों से हमारा परम धर्म है।

अभ्यास

१—जिस भाषा का अपना निजी साहित्य नहीं होता, वह रूपवती भिखारिन की तरह क्यों रहती है ?

२—सोदाहरण स्पष्ट कीजिए कि सभ्यता तथा असभ्यता का निर्णायक एक मात्र साहित्य है।

३—निम्नलिखित शब्दों के अर्थ समझाइए और उनका प्रयोग एक-एक वाक्य में कीजिए :—

निष्क्रिय, निर्भ्रान्त, उत्थित, आडम्बर, उत्पाटन, पादाक्रान्त, अभिवृद्धि।

४—'साहित्य में जो शक्ति छिपी रहती है, वह तोप, तलवार और बम के गोलों में भी नहीं पाई जाती।'—इस वाक्य का विश्लेषण अपने शब्दों में कीजिए।

५—निम्नलिखित की पद-व्याख्या कीजिए :—

'अपनी माँ निःसहाय.....कर सकता है।'

———

२६—झाँसी की रानी की समाधि

श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान

[श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान का जन्म संवत् १६६१ में प्रयाग में हुआ था। छात्रावस्था से ही आप कविता लिखने लगी थीं। राष्ट्रीय आन्दोलन में सक्रिय भाग लेने के कारण आपको कारावास का दण्ड भी भोगना पड़ा था। मध्यप्रदेश की विधान-सभा की आप सदस्या थीं। संवत् २००५ में एक मोटर दुर्घटना में आपका देहान्त हो गया।



नारी जीवन की नैसर्गिक अभिव्यक्ति, पारिवारिक जीवन की अनुभूति, राष्ट्रीय भावनाओं की संलग्नता तथा सोल्लास आशावादिता आपकी कविता के विशेष गुण हैं। आपकी कविता में वात्सल्य और वीररस की प्रधानता है।

आपने साधारण बोलचाल की भाषा को सुदृढ़ और सरस बनाया है। आप कहानी-लेखिका भी थीं। 'मुकुल' आपका सुप्रसिद्ध कविता-संग्रह और 'बिखरे मोती' तथा 'उन्मादिनी' कहानी-संग्रह है। 'मुकुल' और 'बिखरे मोती' पर आपको सेकसरिया पुरस्कार प्रदान किया गया था।]

इस समाधि में छिपी हुई है
एक राख की ढेरी।
जलकर जिसने स्वतंत्रता की
दिव्य आरती फेरी॥
यह समाधि, यह लघु समाधि है
झाँसी की रानी की।
अन्तिम लीलास्थली यही है
लक्ष्मी मरदानी की॥
यहीं कहीं पर बिखर गई वह
भग्न विजन-माल-सी।

उसके फूल यहाँ संचित हैं,
है यह स्मृतिशाला - सी ॥
सहे वार पर वार अन्त तक
लड़ी वीर बाला - सी ।
आहुत-सी गिर चढ़ी चिता पर
चमक उठी ज्वाला-सी ॥
बढ़ जाता है मान वीर का
रण में बलि होने से ।
मूल्यवती होती सोने की
भस्म यथा सोने से ॥
रानी से भी अधिक हमें अब
यह समाधि है प्यारी ।
यहाँ निहित है स्वतंत्रता की
आशा की चिनगारी ॥
इसमें भी सुन्दर समाधियाँ
हम जग में हैं पाते ।
उनकी गाथा पर निशीथ में
क्षुद्र जन्तु ही गाते ॥
पर कवियों की अमर गिरा में
इसकी अमिट कहानी ।
स्नेह और श्रद्धा से गाती
है वीरों की बानी ॥
बुन्देलों हरबोलों के मुँह
हमने सुनी कहानी ।
खूब लड़ी मरदानी वह थी
झाँसी वाली रानी ॥
यह समाधि, यह चिर समाधि
है झाँसी की रानी की ।
अन्तिम लीलास्थली यही है
लक्ष्मी मरदानी की ॥

अभ्यास

१—झाँसी की रानी के संबंध में एक निबन्ध लिखिए, जिसका अन्त इस कविता के आधार पर कीजिए।

२—झाँसी की रानी की समाधि में और अन्य सुन्दर समाधियों में कवयित्री ने क्या अन्तर बतलाया है और क्यों?

३—सविग्रह समास बतलाइए :—

लीलास्थली, विजन-माला, क्रीड़ास्थली, वीरवाणी।

४—'रानी से भी, अधिक हमें अब, यह समाधि है प्यारी' का भावार्थ स्पष्ट कीजिए।

५—इस कविता की भाषा के संबंध में अपने विचार प्रकट कीजिए।

३०—आचार्य विनोबा भावे

श्री अवनीन्द्रकुमार विद्यालंकार

[श्री अवनीन्द्रकुमार विद्यालंकार हिन्दी के प्रख्यात पत्रकार और साहित्यकार हैं। आप विभिन्न विषयों पर हिन्दी की अनेक पत्र-पत्रिकाओं में सामयिक और स्थायी महत्व के लेख समान रूप से लिखा करते हैं।

हिन्दी के सुप्रसिद्ध साप्ताहिक 'नवयुग' के आप कई वर्ष तक सम्पादक रह चुके हैं। आजकल आप दिल्ली में रहते हैं।]

'लाइट आफ एशिया' के लेखक डॉ० ओडेन वर्ग ने भगवान् बुद्ध के बारे में लिखा है :—"वह और उसके शिष्य सवेरे तड़के उठते हैं, जिस समय कि आकाश में दिन का प्रकाश दिखलाई देता है और वह तड़के का समय आत्मिक कार्यों तथा चेलों के साथ बातचीत करने में व्यतीत करता है और इसके उपरान्त वह अपने साथियों के संग नगर की ओर जाता है। उन दिनों में जब कि उसकी प्रसिद्धि सबसे अधिक हो गई थी और जब उसका नाम समस्त भारतवर्ष में सबसे प्रसिद्ध नामों में लिया जाता था, यह मनुष्य जिसके सामने राजा लोग भी सिर झुकाते थे, अपने हाथ में खप्पर लेकर नित्य गलियों और रास्तों में द्वार-द्वार बिना कुछ प्रार्थना किए हुए नीची दृष्टि किए चुपचाप खड़े देखे जाते थे और लोग उसी खप्पर में भोजन का एक ग्रास डाल देते थे।"

इस बीसवीं शती के इस अणु-युग में भारत की इस प्राचीन परम्परा को आचार्य विनोबा भावे अपनी पग-यात्रा द्वारा पुनर्जीवित कर रहे हैं। 'पवनार' का यह दुबला पतला सन्त इस देश में ही नहीं, अपितु विश्व में भी सामाजिक और आर्थिक क्रांति के नये बीज बो रहा है। भूदान-यज्ञ तो उसका प्रतीक मात्र है।

विचार-क्रान्ति का उदय

"न तो पूरा काम है, न काफी जमीन है, तो पेट कैसे भरे ?" यह एक प्रश्न था, जो आचार्य विनोबा के सामने एक खेतिहर मजदूर द्वारा रखा गया।

बात है, दण्डकारण्य के अन्दर नलगंड जिले के पोचपल्ली गाँव की। १८ जनवरी, १६५१ को आम्र-पल्लवों से सुशोभित नाम-संकीर्तन की ध्वनि के मध्य एक पद-प्रवासी संत ने गाँव में प्रवेश किया। गाँववालों ने उस ऋषि का 'पुरुष-सूक्त' से स्वागत किया। आधुनिक साधु को देखकर तीन हजार लोगों के हृदय आनन्द से नाच रहे थे। गाँववाले साधु को चारों ओर से घेरकर बैठे हुए थे। गाँव के सब लोग वहाँ जमा थे। साधु हरेक से प्रश्न पूछ रहा था। गाँव की आबादी तीन हजार और जमीन २,५०० एकड़। भूहीन हरिजन जमींदारों के यहाँ काम करते और उपज का दसवाँ हिस्सा पाते। इसी पर वे अपना निर्वाह करते। शिक्षा नहीं, स्थान नहीं, धन नहीं। फिर इन गरीबों का पेट कैसे भरे? साधु द्वारा पूछे गए प्रश्न का पददलित भूहीन ने उपर्युक्त उत्तर दिया।

जमीन की भूख देखकर सन्त ने पूछा—"तुमको कितनी जमीन चाहिए?"

"८० एकड़ महाराज!"

"क्या इतने से काम चल जायगा? यदि तुमको जमीन दी, तो तुम सब मिलकर खेती करोगे या अलग-अलग?"

"एक साथ करेंगे। तभी पूरी पड़ेगी।"

साधु विचार-निमग्न हो गया। जमीन इनको कहाँ से दी जाय? सरकार देगी क्या? जहाँ अड़चन होती है, वहाँ उपाय भी निकल आता है। गाँव के एक जमींदार ने १०० एकड़ जमीन साधु को दे दी और कहा—"इसको हरिजनों में बाँट दो।"

प्रवासी आगे बढ़ा। भूमिपति और भूहीन का विचार उसके दिमाग में उथल-पुथल मचा रहा था। २१ अप्रेल को वह पल्ली गाँव पहुँचा। यह गाँव राजा बली और वामनावतार की कथा के लिए प्रसिद्ध है। साधु के हृदय में इस कथा ने नई ज्योति जगा दी। साम्य-वादी आन्दोलन के मूल कारणों की मीमांसा करते हुए भारत के इस युग के ऋषि एवं दार्शनिक तथा सत्यान्वेषी को 'वामनावतार' ने अपनी ओर खींचा और उसको अपने प्रश्न का उत्तर मिल गया और सहसा उसके मुख से उद्‌गार निकला—"ब्राह्मण तो मैं था ही। वामना-वतार मैंने ले लिया और भूमिदान माँगना मैंने शुरू कर दिया।"

भूमिदान रूपी गंगोत्री का उद्गम यह गांव है और इसके लानेवाले भगीरथ हैं, आचार्य विनोबा भावे, गांधी जी के यह शिष्य। १६४० के वैयक्तिक सत्याग्रह के प्रारम्भ में आपका नाम देश ने पहले-पहले सुना और जाना। वर्धा आश्रम में समाज-सेवा की तपश्चर्या करते थे। विनोबा अनेक भाषाओं के पण्डित हैं। सब शास्त्रों का आपने अवगाहन और मन्थन किया है। विश्व के विभिन्न धर्मों के ज्ञाता हैं और माने हुए एक अधिकारी हैं। 'प्रथम सत्याग्रही' का गौरवास्पद मान आपको गांधीजी ने दिया, क्योंकि आप शुक्र के समान ब्रह्मचारी हैं।

ब्रह्मचर्य की प्रतिज्ञा

४६ वर्ष तक निरन्तर अज्ञात अवस्था में समाज-सेवा की कठोर तपस्या और साधना के बाद सहसा प्रकट होनेवाले विनोबा कौन हैं? कहाँ के हैं?

रत्नागिरी के भावे कुल में एक नरहरपंत के घर कुलाबा जिले में ११ सितम्बर, १८६५ को एक पुत्र हुआ। इसका नाम विनायक रखा गया। पिता बड़ोदा में काम करते थे। विनायक को भी भेज दिया गया। घर में आचार का कठोरता से पालन किया जाता था। बड़ोदा में शिक्षा पाते हुए ही बालक की वृत्ति अन्तर्मुखी हो गई। शिक्षा का प्रभाव बचपन में ही दिखाई दिया। अभी आठवें वर्ष में ही था कि बालक ने आजन्म ब्रह्मचारी रहने की प्रतिज्ञा की।

इंटरमीडियेट की परीक्षा देकर वापस लौटते हुए विनायक सूरत स्टेशन पर उतर गया। सूरत से उसने अपने पिता को एक छोटा-सा पत्र लिखा और घर-बार छोड़ दिया। पत्र में लिखा था—"कुछ भी हुआ और कहीं भी मैं रहा, अनैतिक आचरण मुझसे कभी न होगा।" पिता को यह आश्वासन देकर तरुण विनायक अदृश्य हो गया।

काशी में

आत्मोन्नति, समाज-सेवा, सत्य की खोज और मुक्ति की प्राप्ति के लिए घर-बार, परिवार और आत्मजनों का परित्याग करने की भारतीय परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। भगवान् रामचन्द्र का

वनवास, बुद्ध की निर्वाण-प्राप्ति, आद्य शंकराचार्य का संन्यास, राष्ट्र-गुरु समर्थ रामदास का विवाह-वेदि से पलायन, ऋषि दयानन्द का गृहत्याग, विवेकानन्द और रामतीर्थ का संन्यास-ग्रहण विश्व-विश्रुत है। आयु के बीसवें वर्ष में १६१५ ई० में विनायक ने राष्ट्र-मुक्ति के लिए घर-बार छोड़ दिया।

विनायक कहाँ गया? माता-पिता ने खोज की, पर सब प्रयत्न विफल हुए। प्रथम महायुद्ध छिड़ चुका था। बंगाल में क्रांतिकारी युवक अपनी आहुतियाँ देने में परस्पर होड़ कर रहे थे और राष्ट्र-यज्ञ की अग्नि को प्रज्ज्वलित कर रहे थे। विनायक को इसकी प्रचण्ड ज्वाला ने अपनी ओर खींचा। वह बंगाल जा पहुँचा, किन्तु कुछ ही दिनों में क्रांतिकारियों की हिंसात्मक प्रणाली से विनायक का मन खिन्न हो गया। कलकत्ता से विनायक काशी पहुँचा। फरवरी, १६१६ में गांधीजी काशी पहुँचे। यहीं सर्वप्रथम विनायक ने गांधीजी के दर्शन किए और उनकी वाणी सुनी। गुरू की खोज में फिरते युवा को सच्चा गुरू मिल गया।

आश्रम में

दोनों के हृदय में एक तड़प थी और व्याकुलता थी। गांधी-विनोबा एक दूसरे की ओर खिंचते गए, पत्र-व्यवहार हुआ। गांधीजी को विनायक में अपना आध्यात्मिक उत्तराधिकारी मिल गया। गांधीजी ने विनायक के आश्रम में भर्ती होने के बारे में लिखा है—"उन्होंने आश्रम में शुरू से ही प्रवेश किया था। आश्रम के पहले सदस्यों में से वे एक हैं।"

विनायक सत्याग्रह आश्रम में पहुँचकर 'विनोबा' हो गया। गांधीजी को पता चला कि विनोबा घर से भागा हुआ है। महात्माजी ने विनोबा के पिता को पत्र लिखा—"तुम्हारा विनोबा मेरे पास है। उसको देखते हुए उसमें चारित्र्य और संतोचित गुणों का असाधारण विकास हुआ है। उसको जो वर्तमान स्थिति है, उस अवस्था की प्राप्ति के लिए स्वयं मुझे भी वर्षों आत्मानुशासन का अभ्यास करना पड़ा था।"

आश्रम से एक साल की छुट्टी लेकर विनोबा ने संस्कृत शास्त्रों

का अभ्यास किया, आलोड़न किया और मन्थन किया। एक साल की छुट्टी समाप्त होने के ठीक दिन गांधीजी के चरणों में पहुँचकर विनोबा ने अपने गुरु को भी चकित कर दिया। महात्माजी ने इस घटना को कभी भुलाया नहीं।

बहु-भाषा-विज्ञ

विनोबा प्रकांड पण्डित हैं। आज यद्यपि वे गीता, यूक्लिड की भूमिति और ईसप की कथाओं के सिवाय अन्य चीजें कम पढ़ते हैं; पर आश्रम में रहते हुए उनका वाचन अहर्निश चलता रहा है। धर्म, दर्शन, इतिहास, विज्ञान आदि विषयों पर उनकी नजर से गई किताब पूरी पढ़े बगैर नहीं रही। संस्कृत, फारसी, उर्दू, हिन्दी, मराठी, गुजराती, बँगला, तेलगू, कन्नड, मलयालम और अंग्रेजी, इन भाषाओं पर विनोबा का प्रभुत्व है। नयी-नयी भाषा सीखने का आज भी आपको व्यसन-सा है।

विनोबा कवि भी हैं, ग्रन्थकर्ता भी हैं और एक उत्तम व्याख्याता हैं। जब वे छोटे थे, तब उनकी माँ ने एक दिन कहा कि संस्कृत की गीता मुझे समझ में नहीं आती। मातृ-भक्त विनोबा ने 'गीताई' नाम से गीता का भाषान्तर तैयार करके माता को दिया। मराठी में यह एक नेत्र-दीपक अलंकार हो गया है। इस छोटी-सी 'गीताई' ने ढाई लाख घरों में प्रवेश पाया है। अन्य अनेक भाषाओं में इसका अनुवाद हो गया है।

विनोबा की स्मरणशक्ति पर तो गांधीजी भी विस्मय विमुग्ध थे। ज्ञानेश्वरी, बाईबिल, कुरान, उपनिषद्, दासबोध, तुकाराम के अभंग, तुलसीदास की रामायण के संदर्भ-के-संदर्भ और श्लोक, दोहे, चौपाई विनोबा को कण्ठस्थ हैं और जब वे भाषण करते हैं तब उनकी वाग्धारा से अमृत के झरने-सा आह्लाद-दायक प्रवाह प्रवाहित होने लगता है। "विनोबा भाषण देते हुए श्रोताओं की ओर नहीं देखते कि उनके विचारों का उपस्थित समुदाय पर क्या प्रभाव पड़ा रहा है। वे अपने नाभि-कमल पर दृष्टि रखकर अपना अविवृत्त, अखंड समस्वर वाग्धारा-प्रवाह जारी रखते हैं। वे अपने भाषणों में उपमाओं, दृष्टान्तों, कल्पनाओं, श्लोकों, सूक्तियों का प्रचुर

मात्रा में प्रयोग करते हैं। वे कठिन-से-कठिन और गम्भीर-से-गम्भीर विषय को सरल-से-सरल शब्दों में रखने की क्षमता रखते हैं। संशयों का जाल नष्ट करने की कला में प्रवीण हैं।"

दिनचर्या

विनोबा ब्राह्ममुहुर्त्त में प्रातः ३॥ बजे उठ बैठते हैं। पाठ, सामूहिक प्रार्थना आदि समाप्त कर यात्रा के लिए रवाना हो जाते हैं। प्रातः छः बजे एक कटोरा दही पीते हैं। प्रातः ६-६॥ बजे तक १०-१५ मील की यात्रा समाप्त कर निश्चित गाँव पहुँच जाते हैं। शेष दिन गाँव में, सामूहिक सूत-कताई, भूमि-भिक्षा, भूमि-वितरण, गाँववालों से कुशल-मंगल वार्ता, प्रार्थना, भाषण आदि का कार्यक्रम रहता है। ठीक ८॥ बजे रात विनोबा सो जाते हैं। वे अच्छे वक्ता ही नहीं, अच्छे श्रोता भी हैं। जब वे बोल रहे हों, भाषण दे रहे हों, तब वे टोका जाना पसन्द नहीं करते। उनका भार ६० पौंड है। दिन में १॥ सेर दूध और दो चार फल ही उनका आहार है। इसी आहार पर उनमें इतनी शक्ति और इतना उत्साह है कि उसको देखकर युवक भी लज्जित हो जाते हैं। प्रति घंटा पाँच मील की चाल से वे चलते हैं। उनके कदम के साथ कदम मिलाकर सब के लिए चलना सम्भव नहीं है।

कांचन-मुक्ति का प्रयोग

आचार्य विनोबा अपने आश्रम में एक नया परीक्षण कर रहे हैं। इस परीक्षण का नाम है 'कांचन-मुक्ति।' यदि यह सफल हुआ तो अर्थशास्त्र में एक युगान्तरकारी घटना घटित होगी। विनोबा का विचार है कि श्रम और फल के बीच पैसा आज बाधा है, व्यवधान है। अतः इसका अन्त कर देना चाहिए। श्रम का बदला पैसे में न देकर फल के रूप में श्रमिकों को दिया जाय। दुःख और दारिद्र्य का कारण यह बीच की बाधा पैसा ही है। यदि यह निकल गया, तो प्रत्येक मेहनत करनेवाले को जीवन की आवश्यक वस्तुएँ मिलेंगी और उसको सुख एवं संतोष प्राप्त होगा। इससे पैसे की जगह श्रम का महत्व बढ़ेगा।

विनोबा नोटों के विरुद्ध नहीं हैं। ये चल सकते हैं; परन्तु इन पर अर्थशून्य अंक न रहकर श्रम के घंटों का उल्लेख होना चाहिए। आचार्य अपने 'परमधाम आश्रम' में इसका इस समय परीक्षण कर रहे हैं। यदि यह परीक्षण विशाल क्षेत्र में सफल हुआ, तो वस्तुतः एक नवीन क्रान्तिकारी युग शुरू हो जायगा। आचार्य विनोबा द्वारा प्रतिपादित कांचन-मुक्ति की व्यवस्था वस्तुतः भारतीय दर्शन, व्यवहार एवं दृष्टिकोण के अनुरूप है। उनके प्रयोग की सफलता प्रकाशित करेगी कि अर्थशास्त्र के क्षेत्र में भी भारत की अपनी देन है।

पाँच कोटि एकड़ जमीन

विनोबा का कहना है "इस युग का मुख्य सवाल भूमि का है। याद अहिंसा पर मेरी दृढ़ श्रद्धा न होती, तो मैं साम्यवादी पक्ष में शामिल हो जाता, परिस्थिति इतनी भीषण है।"

श्री रामचन्द्र रेड्डी के १०० एकड़ भूमि-दान से भूदान-यज्ञ का आरम्भ हुआ। इस आचार्य ने कहा—"मेरे शब्द-शब्द में परमेश्वर ने शक्ति दी है।" सर्वोदयी समाज-रचना का यह एक युग-प्रवर्त्तक प्रयोग है। विनोबा का कहना है—"मेरा उद्देश्य क्रान्ति को टालना नहीं है। मैं क्रान्ति करना चाहता हूँ, परन्तु वह अहिंसक होनी चाहिए। भारत की भावी शान्ति जमीन के बाँटने पर अवलम्बित है।"

विनोबा का नारा है,—"सबै भूमि गोपाल की" और आज वे पाँच करोड़ एकड़ भूमि माँगने के लिए गाँव-गाँव घूम रहे हैं। उनको अपनी सफलता पर पूर्ण विश्वास है। जमीन देना इतिहास-विरुद्ध है, यह आपत्ति वे सुनने को तैयार नहीं। आचार्य का कहना है—"रूसी क्रान्ति क्या पहले भी कभी हुई थी? परन्तु वह हुई न? यदि इतिहास की आवश्यकता हुई, तो यह कालपक्व घटना भारत में यशस्वी होगी। यदि हमने साम्ययोग का अहिंसक प्रयोग सफल करके दिखला दिया तो हिंसाशील दुनिया को एक नया मार्ग दिखाने की जवाबदारी भारत पूरी कर सकेगा।"

भूदान-यज्ञ में ३५ लाख एकड़ से अधिक जमीन एकत्र हो चुकी है। यह विनोबा के विश्वास को पुष्ट करता है—"इतिहास

हमारे हाथ की गीली चिकनी मिट्टी है। इसको जैसे चाहे मोड़ लो और बना लो।"

अभ्यास

१—भूदान-यज्ञ की प्रेरणा पहले-पहल कहाँ और किस प्रकार आचार्य विनोबा भावे में उत्पन्न हुई ?

२—राष्ट्रमुक्ति के लिए विनोबा भावे ने कब और किस प्रकार अपना घर छोड़ दिया था ? क्या उनका उद्देश्य पूरा हो गया ?

३—इस लेख के आधार पर भूदान यज्ञ के प्रवर्तक आचार्य विनोबा भावे पर एक छोटा निबन्ध लिखिए।

४—विनोबाजी को सच्चा गुरु कहाँ मिला ? उस गुरु के संबंध में आप क्या जानते हैं ?

५—विनोबाजी के उस परीक्षण के संबंध में अपने विचार प्रकट कीजिए, जिसकी संभाव्य सफलता अर्थशास्त्र में एक युगान्तरकारी घटना मानी जायगी।

३१—कर्मवीरता

श्री जयशङ्कर 'प्रसाद'



श्री जयशङ्कर प्रसाद

[काशी के एक उच्च व्यापारी कुल में प्रसादजी का जन्म सन् १८८९ में हुआ। आपने किसी विद्यालय में शिक्षा नहीं पाई। हिन्दी, उर्दू, फारसी और संकृत का अध्ययन घर पर ही किया। सन् १९३७ में अपका देहावसान हो गया।

प्रसादजी की प्रतिभा बहुमुखी थी। कविता, कहानी, नाटक और उपन्यास सभी आपने लिखे और सफलता का वरण किया। नवीन युग की काव्य-प्रणाली के आप प्रवर्त्तक माने जाते हैं। नाटकों की भाँति आपकी कविता भी गहन और दार्शनिक होती है। भाषा की जटिलता आपकी रचनाओं को साधारण पाठकों के लिए दुरूह बना देती है। 'कामायनी' आपका प्रसिद्ध महाकाव्य है, जिस पर आपको मङ्गलाप्रसाद पारितोषिक मिला था। लहर, झरना, आँसू आदि आपके काव्य-ग्रन्थ हैं। कंकाल और तितली आपके उपन्यास हैं।]

[उज्जयिनी में गुप्त-साम्राज्य का स्कंधावार]

कुमार स्कंदगुप्त—(टहलते हुए) अधिकार-सुख कितना मादक और सारहीन है। अपने को नियामक और कर्त्ता समझने की बलवती स्पृहा उससे बेगार कराती है। क्या अधिकार-लोलुप मनुष्य उत्सवों में परिचारक और अस्त्रों में ढाल से भी अच्छे हैं? ऊँह! कुछ हो, हम तो साम्राज्य के एक सैनिक हैं।

पर्णदत्त (प्रवेश कर के)—युवराज की जय हो!

स्कंद०—आर्य पर्णदत्त का अभिवादन करता हूँ। सेनापति की क्या आज्ञा है?

पर्ण—मेरी आज्ञा, युवराज! आप सम्राट् के प्रतिनिधि हैं; मैं तो आज्ञाकारी सेवक हूँ। इस वृद्ध ने गरुड़ध्वज लेकर आर्य चन्द्र-

गुप्त की सेना का संचालन किया है। अब भी गुप्त-साम्राज्य की नासीर सेना में पवित्र क्षात्रधर्म का गरुड़ध्वज की छाया में पालन करते हुए उसी के मान के लिए मर मिटने की ही कामना है। गुप्त-कुल-भूषण! आशीर्वाद दीजिए—वृद्ध पर्णदत्त की माता का स्तन्य लज्जित न हो।

स्कंद०—आर्य! आपकी वीरता की लेखमाला शिप्रा और सिन्धु की लोल लहरियों से लिखी जाती है। शत्रु भी उस वीरता की सराहना करते हुए सुने जाते हैं तब भी संदेह?

पर्ण०—संदेह दो बातों से है युवराज!

स्कंद०—वे दो बातें कौन-सी हैं?

पर्ण०—अपने अधिकारों के प्रति आपकी उदासीनता और साम्राज्य की राजधानी में नित्य नये-नये परिवर्तन।

स्कंद०—क्या अयोध्या का कोई नया समाचार है?

पर्ण०—संभवतः सम्राट् पुष्पपुर चले गये हैं और कुमारामात्य महाबलाधिकृत वीरसेन का गंगा-लाभ हो गया।

स्कंद०—क्या कहा! महाबलाधिकृत अब नहीं हैं?

पर्ण०—शोक! अनेक समरों के विजेता, महामानी, गुप्त-साम्राज्य के महाबलाधिकृत अब इस लोक में नहीं हैं! इधर प्रौढ़ सम्राट के विलास की मात्रा बढ़ गई है!

स्कंद०—चिंता क्या, आर्य! अभी तो आप हैं, तब भी हमी सब विचारों का भार वहन करें, अधिकार का उपयोग करें! वह भी किस लिए?

पर्ण०—(उतेजित होकर) किस लिए?—त्रस्त प्रजा की रक्षा के लिए, शिशुओं के आनन्द के लिए, सतीत्व के सम्मान के लिए, देवता-ब्राह्मण और गौ की मर्यादा में विश्वास के लिए, आतंक से प्रकृति को आश्वासन देने के लिए आपको अपने अधिकारों का उपयोग करना होगा युवराज! इसी लिए मैंने कहा था कि आप अपने अधिकारों के प्रति उदासीन हैं। इसी की मुझे बड़ी चिन्ता है। गुप्त-साम्राज्य के भावी शासक को अपने उत्तरदायित्व का ध्यान नहीं।

स्कंद०—सेनापते! सावधान! प्रकृतिस्थ होइए। परम भट्टारक महाराजाधिराज अश्वमेध—पराक्रमी श्री कुमारगुप्त महेन्द्रादित्य के

सुशासित राज्य की सुपालित प्रजा को डरने का कोई कारण नहीं है। गुप्तसेन की सम्मान-रक्षा के लिए पर्णदत्त-सदृश महावीर अभी प्रस्तुत हैं।

पर्ण०—राष्ट्रनीति दार्शनिकता और कल्पना का लोक नहीं है। इस कठोर प्रत्यक्षवाद की समस्या बड़ी कठिन होती है। गुप्त-साम्राज्य की उत्तरोत्तर वृद्धि के साथ-साथ उसका दायित्व भी बढ़ गया है। पर उस बोझ को उठाने के लिए गुप्तकाल-शासक प्रस्तुत नहीं, क्योंकि साम्राज्य-लक्ष्मी को वह अब अनायास और अवश्य अपनी शरण में आनेवाली वस्तु समझने लगे हैं।

स्कंद०—आर्य! इतना व्यंग न कीजिए। इसके कुछ प्रमाण भी हैं?

पर्ण०—प्रमाण प्रत्यक्ष है। क्या अभी उसे खोजना है? आँधी आने के पहले व्योम जिस तरह स्तंभित हो जाता है, क्या वैसी ही दशा गुप्त-साम्राज्य की नहीं है?

स्कंद०—(हँसकर) क्या पुष्यमित्रों के इस युद्ध को देखकर वृद्ध सेनापति चकित हो रहे हैं?

पर्ण०—युवराज! व्यंग न कीजिए! केवल पुष्यमित्रों के युद्ध से ही इति श्री न समझिए, अन्य देशवालों के भयानक आक्रमण के लिए भी प्रस्तुत रहना चाहिए। चरों ने आज ही कहा है कि कपिशा को श्वेत हूणों ने पादाक्रांत कर लिया है। तिसपर युवराज पूछते हैं कि "अधिकारों का उपयोग किस लिए?" यही "किस लिए" प्रत्यक्ष प्रमाण है कि गुप्तकुल के शासक इस साम्राज्य को गले पड़ी वस्तु समझने लगे हैं।

[चक्रपालित का प्रवेश]

चक्र०—(देखकर)—अरे, युवराज भी यहाँ हैं! युवराज की जय हो!

स्कंद०—आओ चक्र! आर्य पर्णदत्त ने मुझे घबरा दिया।

चक्र०—पिताजी, प्रणाम! कैसी बात है?

पर्ण०—कल्याण हो, आयुष्मन्! तुम्हारे युवराज अपने अधिकारों से उदासीन हैं। वह पूछते हैं—'अधिकार किस लिए?'

चक्र०—तात! इस 'किस लिए' का अर्थ मैं समझता हूँ।

पर्ण०—क्या ?

चक्र—गुप्तकुल का अव्यवस्थित उत्तराधिकार-नियम।

स्कंद०—चक्र, सावधान ! तुम्हारे इस अनुमान का कुछ आधार भी है ?

चक्र—युवराज ! यह अनुमान नहीं है, यह प्रत्यक्ष सिद्ध है।

पर्ण०—(गम्भीरता से) चक्र ! यदि यह बात हो भी तो भी तुमको ध्यान रखना चाहिए कि हम लोग साम्राज्य के सेवक हैं। असावधान बालक ! अपनी चंचलता को विषवृक्ष का बीज न बना।

स्कंद—आर्य पर्णदत्त ! क्षमा कीजिए। चक्र हार्दिक बातों को राजनीतिक भाषा में व्यक्त करना नहीं जानता।

पर्ण०—ठीक है, किन्तु उसे इतनी शीघ्रता नहीं करनी चाहिए। (देखकर) चर आ रहा है। कोई युद्ध का नया समाचार है क्या ?

[चर का प्रवेश]

चर—युवराज की जय हो !

पर्ण०—क्या समाचार है ?

चर—अबकी बार पुष्यमित्रों का अंतिम प्रयत्न है। वे अपनी समस्त शक्ति संकलित करके बढ़ रहे हैं। नासीर सेना के नायक ने सहायता माँगी है। दशपुर से भी दूत आया है।

स्कंद०—अच्छा जाओ उसे भेज दो।

[चर जाता है, दूत का प्रवेश]

दूत—युवराज भट्टारक की जय हो !

स्कंद०—मालवपति सकुशल हैं ?

दूत—कुशल आपके हाथ है महाराज ! विश्ववर्मा का शरीरांत हो गया। नवीन नरेश महाराज बंधुवर्मा ने साभिवादन श्री चरणों में संदेश भेजा है।

स्कंद०—खेद, ऐसे समय में जब कि हम लोगों को मालवपति से सहायता की आशा थी, वह स्वयं कौटुम्बिक आपत्तियों में फँस गये हैं।

दूत—इतना ही नहीं, शक राष्ट्र-मंडल चंचल हो गया है। नवागत सेना से सौराष्ट्र पादाक्रान्त हो रहा है; इसी कारण पश्चिमी मालव भी अब सुरक्षित नहीं रहा है।

[स्कंदगुप्त पर्णदत्त की ओर देखते हैं।]

पर्ण०—वलभी का क्या समाचार है ?

दूत—वलभी का पतन रुका है। बर्बर हूणों से उसका बचाना भी कठिन है। मालव की रक्षा के लिए महाराज बन्धु-वर्मा ने सहायता माँगी है। दशपुर की समस्त सेना सीमा पर जा चुकी है।

स्कंद०—मालव और शक-युद्ध के पश्चात् जो संधि गुप्त-साम्राज्य और मालव-राष्ट्र में हुई है, उसके अनुसार मालव की रक्षा के लिए गुप्त सेना का प्राण-विसर्जन करना उचित है। महाराज विश्ववर्मा के समय से ही सम्राट् कुमारगुप्त उनके संरक्षक हैं। बड़ी कठिन समस्या है।

दूत—विषम व्यवस्था है युवराज ! साम्राज्य ने संरक्षक का भार लिया है।

पर्ण०—दूत, क्या तुम्हें विदित नहीं कि पुष्यमित्रों से हमारा युद्ध चल रहा है ?

दूत—तब भी मालव ने कुछ समझकर किसी आशा पर अपनी स्वतन्त्रता की सीमा कर दी थी।

स्कंद०—दूत ! केवल संधि-नियम ही से हम बाध्य नहीं हैं; किन्तु शरणागत-रक्षा भी क्षत्रियों का धर्म है। तुम विश्राम करो। सेनापति पर्णदत्त, पुष्यमित्रों की गति समस्त सेना लेकर रोकें। अकेला स्कंदगुप्त मालव की रक्षा करने के लिए सन्नद्ध है। जाओ, निर्भय निद्रा का सुख लो। स्कंदगुप्त के जीते जी मालव का कुछ न बिगड़ सकेगा।

दूत—धन्य हैं ! आर्य साम्राज्य के भावी शासक के उपयुक्त ही यह बात है। (प्रणाम करके जाता है)

पर्ण०—युवराज ! आज यह वृद्ध हृदय से प्रसन्न हुआ। कोई चिन्ता नहीं। गुप्त-साम्राज्य की लक्ष्मी प्रसन्न होंगी।

चक्र०—तात ! पुष्यमित्र-युद्ध का अंत तो समीपप्राय है। विजय निश्चित है। किसी दूसरे सैनिक को भेजिए; मुझे युवराज के साथ जाने की आज्ञा हो।

स्कंद०—नहीं, चक्र ! तुम विजयी होकर मुझे मालव में मिलो।

ध्यान रखना होगा कि राजधानी से अभी कोई सहायता नहीं मिलती। हम लोगों को इस आसन्न विपत्ति में अपना ही भरोसा है।

पर्ण०—कुछ चिन्ता नहीं युवराज ! भगवान् सब मंगल करेंगे। चलिए, विश्राम करें।

अभ्यास

१—पर्णदत्त के संदेह के क्या कारण थे ?

२—स्कन्दगुप्त अपने अधिकारों के प्रति उदासीन क्यों थे ?

३—स्कन्दगुप्त के चरित्र की क्या विशेषता लक्षित होती है ?

४—स्पष्ट रूप से अर्थ समझाइए—

(अ) अधिकार-सुख.....सैनिक है।"

(आ) "राष्ट्रनीति दार्शनिकता.....समझने लगे हैं।"

५—अर्थ बताइए और अपने वाक्यों में इनका प्रयोग कीजिए—

स्पृहा, स्तम्भित, संकलित, प्राण-विसर्जन, प्रकृतिस्थ।

३२—चल लहरों से खेलें

श्रीमती हीरादेवी चतुर्वेदी

[श्रीमती हीरादेवी चतुर्वेदी हिन्दी की प्रख्यात कवयित्री और कहानी-लेखिका हैं। आपका जन्म ता० २ मई सन् १९१५ को मध्यप्रदेश के खण्डवा नगर में हुआ। आपकी शिक्षा महिला नार्मल स्कूल, जबलपुर में हुई। हिन्दी के प्रख्यात कथाकार पं० देवीदयाल चतुर्वेदी 'मस्त' की आप धर्मपत्नी हैं।

मधुमास, मधुवन, 'नीलम' और 'मंजरी' आपके कविता-संग्रह हैं। 'उलझी लड़ियाँ' आपका प्रसिद्ध कहानी-संग्रह है, जिसकी उत्तमता पर उत्तरप्रदेशीय सरकार के शिक्षा-विभाग द्वारा आपको ५००) रु० का पुरस्कार प्रदान किया जा चुका है।। 'मधुमास' पर उत्तरप्रदेशीय सरकार द्वारा आपको ४००) रु० का पुरस्कार दिया जा चुका है।

महिलाओं की समस्याओं पर आपके निबन्धों का संग्रह 'घर की देवी' है। 'रंगीन पर्दा' आपके कलात्मक एकांकी नाटकों का संग्रह है।

मासिक पत्रिका 'मनोरमा' की आप कई वर्ष सम्पादिका रह चुकी हैं। आपकी भाषा परिमार्जित और शैली प्रभावोत्पादक है। आपकी कविताओं की सबसे बड़ी विशेषता है सरल तथा बोधगम्य भाषा, जो उनके भावों को व्यक्त कर पाठक को आत्मविभोर कर देती है। आपकी कविताओं में जीवन-सङ्गीत, कल्पना, अनुभूति और कोमल भावों की सरल और सुन्दर अभिव्यंजना ओतप्रोत रहती है।]

छोटी - सी यह नैय्या मेरी
डगमग - डगमग डोली।
जली अचानक सागर की भी
लहरों में ही होली।
तूफानों में तरणी मेरी
आज फँसी अलसाई
और गरजती - उफनाती - सी
लहरों से टकराई।

बीच भँवर में नैय्या मेरी
दिखता नहीं किनारा।
नभ-दीपक भी बुझे आज सब,
छाया है अँधियारा।

किन्तु प्रलय की इन घड़ियों में,
मन में नहीं उदासी।
लहरों में लय होना हमको,
हम लहरों के वासी।

बेहोशी की घड़ियाँ भी तो
हमको हैं अलबेली।
हँसते-हँसते महानाश से
करते हम अठखेली।

अतल-वितल से सागर! जो यह
ज्वाला तेरी जागी।
महाप्रलय की अगवानी को
मस्ती मेरी जागी।

इस दुनिया की धूप-छाँह में
आज रहे, कल जाना।
रैन-बसेरा आज जहाँ, क्यों
लौट वहीं कल आना?

छोड़ किनारा नैय्या मेरी
लहरों पर लहराई।
तब क्यों लौटे लहरों पर ही
रहने को जब आई?

उठने दो सुनसान हिलोरें,
चलें काल से खेलें।
बुझने दो जीवन की बाती,
चल-लहरों से खेलें।

अभ्यास

१—निम्न पंक्तियो में कवयित्री की अभिव्यंजना स्पष्ट कीजिए, 'किन्तु प्रलय की .....हम लहरों के वासी।'

२—महाप्रलय की अगवानी के लिए कवयित्री ने किस मनोभाव का परिचय दिया है और क्यों ?

३—इस कविता में प्रयुक्त सामाजिक शब्दों को छाँटिए और उनका समास-विग्रह कीजिए।

४—इस कविता को पढ़कर आपके मन में किस भावना का संचार हुआ और क्यों ?

३३—संगीत का मनोवैज्ञानिक प्रभाव

[संकलित]

एक रूसी विज्ञानवेत्ता प्रो० एस० बी० कोदाफ ने कई बार अपने प्रयोगों में सफलता प्राप्त कर लेने के बाद यह परिणाम निकाला है कि संगीत द्वारा आँखों का इलाज किया जा सकता है और जिन आँखों की रोशनी धीरे-धीरे कम होती जाती है, उनमें संगीत द्वारा इलाज करके लगभग २५ प्रतिशत सुधार आसानी के साथ किया जा सकता है। उक्त वैज्ञानिक ने प्रयोग करके देखा है कि जो घड़ियाँ घंटा बजाती हैं, उनके संगीतमय मधुर स्वर से ही आँखों पर काफी प्रभाव पड़ जाता है।

इस प्रसंग में रूस की अपेक्षा अमेरिका के प्रयोग तो और भी आश्चर्यजनक हैं। शिकागो के पागलखाने में विश्व-प्रसिद्ध पियानो-वादक मो० बोगुस्लावस्की ने कई अनोखे प्रयोग किए। उस पागल-खाने में एक इटालियन युवती भरती हुई थी। अभी उसकी एक ही संतान हुई थी कि बेचारी बीमार पड़ी और अस्पताल से पागल होकर निकली। इसके बाद उसे शिकागो के पागलखाने में रखा गया; क्योंकि उसकी हरकतें ऐसी होने लगी थीं कि दूसरों की तो बात ही क्या, उसका अपना बच्चा तक उससे सुरक्षित न था। बहुत ही विक्षिप्त मस्तिष्क उसका हो गया था! चुपचाप आकाश की ओर देखती रहती और दवा-दारू के लिए कोई पास जाता, तो चीख मारकर उधम मचाती और जोर से चिल्ला-चिल्लाकर कहती—"मेरा इलाज पशुओं की तरह करो!" अपने बच्चे को तो देखते ही वह भूखी शेरनी की भाँति उसकी ओर टूट पड़ती। उसे वह फूटी आँखों भी देखना नहीं चाहती थी।

बोगुस्लावस्की ने सुना, तो वह हैरत में आ गया; पर उसने प्रयोग करने का इरादा किया। उसने पागलखाने में जा, पियानो बजाकर उस इटालियन पगली की परीक्षा करनी चाही। आज्ञा मिल गई और बोगुस्लावस्की पगली के पास गया। वहाँ जाकर उसने

इटालियन गीत पियानो पर बजाना शुरू किया। उच्चकोटि के विशुद्ध संगीत से लेकर ग्राम्यगीतों तक को उसने विभिन्न स्वरों में बजाया। अंत में, जब उसने एक ग्राम्यगीत की लय मधुर-करुण स्वर में बजायी, तो वह पगली जो अभी तक चुपचाप ध्यानावस्थित संगीत की तरफ खिंची बैठी थी, भावावेश में फूट पड़ी एवं सिसक-सिसककर रोने लगी। इसके थोड़ी देर बाद ही हाथ जोड़कर वह नौकरों से प्रार्थना करने लगी कि एक बार—सिर्फ एक बार ही—क्षण-भर के लिए उसका बच्चा उसे दिखा दिया जाय!

पियानो का प्रयोग एक दूसरी महिला पर भी किया गया था। वह उन्माद-रोग से ग्रसित थी। समय-समय पर उसे दौरे आया करते थे, जिनसे वह अकस्मात् गिर पड़ती और कभी-कभी घंटों बेहोश पड़ी रहती। एक बार उसे दौरा आने ही वाला था कि पास ही बैठे हुए एक व्यक्ति ने पियानो बजाना आरम्भ कर दिया। थोड़ी देर के बाद साश्चर्य देखा गया कि दौरा बढ़ा नहीं। अब तो उस रोगिणी को लेकर पियानो के और भी कई प्रयोग किए गए। इन सारे प्रयोगों के आधार पर उस रोगिणी के लिए अब यही व्यवस्था की गई कि दौरे का आभास मिलते ही वह पियानो पर संगीत की एक खुराक ले ले और इस प्रकार उसकी मूर्च्छना शांत कर दी जाय।

फ्रांस में तो दंतरोगों के विशेषज्ञों ने संगीत द्वारा ऐसे-ऐसे करिश्मे कर दिखाए हैं, जो चिकित्सा-विज्ञान द्वारा पहले इतने सहज-साध्य न थे। न्यूयार्क शहर के विलेव-अस्पताल के डा० एल० एस० बेंडर ने स्वभावतः उत्पाती बच्चों के उपद्रवों को छुड़ाने का साधन संगीत में खोज निकाला है। ब्रुकलिन के नेत्र और कान-अस्पताल के चिकित्सक डा० ए० एफ० अर्डमैन ने चीर-फाड़ के समय रोगियों के कान में ईयरोफोन लगाकर उनकी यंत्रणाओं को बहुत कम कर दिया है। कुछ ऐसे रोगी होते हैं, जो पीड़ा से नहीं, पीड़ा की आशंका से घबड़ाते और स्नायविक दुर्बलता के कारण मामूली चीर-फाड़ का नाम सुनते ही काँपने लगते हैं। ऐसे लोगों के लिए चिकित्सकों ने संगीत की व्यवस्था कर दी है। इसकी व्यवस्था यों की गई है कि जब उनका आपरेशन होता रहेगा, तब पास में रखे हुए ग्रामो-फोन पर बढ़िया रेकार्ड बजते रहेंगे और एक ईयरोफोन रोगी के कान

पर लगा दिया जायगा, जिससे उसकी मधुर स्वर-लहरी में डूबा वह साधारण यंत्रणाओं की ओर ध्यान भी न दे सकेगा। एक बार एक संगीतज्ञ ने स्वयं अपने हाथ से हारमोनियम बजाना स्वीकार किया था, जब कि डाक्टर आपरेशन कर उसकी जाँघ में लगी हुई गोली निकाल रहे थे।



भारतीय रागिनी

• • • संगीत का प्रभाव केवल मनुष्यों पर ही पड़ता हो, ऐसी बात नहीं है। पशुओं पर भी उसका प्रभाव पड़ता है। स्वीडेन के कुछ 'डेरी-फार्मों' में इस बात का प्रयोग किया गया था और उसमें यह सफलता मिली थी कि गायों को दूहते समय अगर संगीत होता रहे, तो गायें अधिक दूध देती हैं। मदारी डमरू पर नाचते हुए बंदरों और भालुओं तथा वीणा-ध्वनि पर प्राणों का भी मोह छोड़नेवाले

हिरनों की घटनाएँ कितने ही व्यक्तियों ने आँखों-देखी हैं। विषधर सर्प जब सँपेरे की तूमड़ी पर मुग्ध हो अपना विषैला स्वभाव त्याग उन्मत होकर उसके संकेत पर नाचने-लोटने लगता है, तब मनुष्य संगीत में अपनापन भूल जाय, तो कोई आश्चर्य नहीं। बादलों के गरजने का स्वर सुनकर मोरों का पिहकना और नाचना भी तो संगीत का ही एक चमत्कार है।

विभिन्न प्रकार के संगीत-वाद्यों का प्रभाव विभिन्न व्यक्तियों पर विभिन्न रूपों में पड़ता है। उदाहरणार्थ, ढोल की आवाज किसी के मस्तिष्क को शांत कर सकती है, तो किसी को उत्तेजित। इसी प्रकार विभिन्न रागों का प्रभाव भी सुननेवालों पर विभिन्न रूपों में देखा गया है—जैसे धीरे-धीरे गुनगुनाना जहाँ हमारे हृदय को गुदगुदा-कर मुग्ध करता है; वहाँ बैंड के साथ बिगुल का स्वर प्राणों में आवेश एवं चंचलता भर देता है। रात का बिहाग जहाँ हृदय को मथकर भावनाओं को अंदोलित कर देता है, वहाँ सवेरे की शहनाई प्राणों को मधुर चेतना से आलोड़ित कर देती है। जब संगीत-वाद्य चल रहा हो, तो लोगों की नजरें बचाकर आप जरा सुननेवालों के चेहरों पर दृष्टि डालिए और देखिए, कितने लोगों पर कितने तरह के भाव खिंच गए हैं। 'खिंच गए हैं' शब्द हमने जान-बूझकर कहे हैं; क्योंकि उस समय सुननेवालों के मनोभाव गुप्त नहीं रह सकते—आँखों, भवों और चेहरे पर स्पष्ट रेखाओं में खिंच उठते हैं।

उत्पाती कैदियों और भीषण अपराधों के अपराधियों पर भी संगीत का कैसा प्रभाव पड़ता है, इसे संगीत-शास्त्र के विशारद विलियम वाल ने प्रत्यक्ष प्रमाणित कर दिखाया है। विलियम वाल हालैंड में पैदा हुआ था; पर अपनी संगीत-संबंधी प्रतिभा का विकास उसने अमेरिका में किया है। एक दिन की घटना है। एक पागलखाने में वह अपना बाजा लिये घुस गया। यह बड़े जीवट का काम था; क्योंकि उस पागलखाने में कई पागल ऐसे थे, जो बहुत भयानक समझे जाते थे। विलियम वाल भीतर दिखाई पड़ा कि एक बलिष्ठ सुगठित शरीरवाला पागल, पागलखाने के अधिकारियों ने जिसकी खास निगरानी रखने का आदेश दे रखा था, उसकी ओर आगे बढ़ा। लेकिन वाल को अपनी कला पर विश्वास था। उसने संगीत

का स्वर और मधुर किया और पागल मंत्रमुग्ध की तरह आगे बढ़कर उसके स्वर-में-स्वर मिलाकर गाने लगा।

इसके बाद हफ्ते में एक बार गाने की सुविधा उसे इस प्रतिज्ञा पर मिली कि वह अपने को नियंत्रित रखेगा। कुछ महीनों के बाद ही उसे पागलखाने से बाहर निकाल दिया गया। गाने की सुविधा उसे मिल गई, तो वह अक्सर गाता पाया जाता। धीरे-धीरे संगीत में उसका ध्यान इतना जमा कि मस्तिष्क की विक्षिप्तता जाती रही और पागलपन भी दूर हो गया!

सङ्गीत का प्रभाव उद्योग-धंधों पर भी पड़ रहा है। एक ही प्रकार का काम करते-करते शारीरिक थकान के पहले ही जो मानसिक थकान आ जाती है, उसे सङ्गीत द्वारा मिटाया जा सकता है। इसका पता लगते कितनी ही कम्पनियों ने अपने-अपने कारखानों में सङ्गीत की व्यवस्था कर रखी है। देखा गया है कि इस व्यवस्था से लोग प्रसन्नतापूर्वक अधिक मात्रा में अधिक निपुणता के साथ काम कर जाते हैं।

लंदन में पिछले दिनों दो प्रयोग किए गए थे, जिनसे देखा गया कि माल पैक करनेवाली एक कम्पनी में काम के वक्त धीमे-धीमे मंद स्वर में सङ्गीत चल रहा था। इसका प्रभाव यह दिखाई पड़ा कि ३५५ पैक करनेवाले व्यक्तियों ने और दिनों की अपेक्षा ११ प्रति शत पैक अधिक किए।

फ्रांस एवं अमेरिका की स्वास्थ्य-औषध-प्रयोगशालाओं में अब तो सैकड़ों विज्ञान-वेत्ता संगीत की भावी उपयोगिताओं को लेकर अनेक अनुसंधान कर रहे हैं। एक जर्मन औषध-विशेषज्ञ ने तो सुप्रसिद्ध अंग्रेजी औषध-अनुसंधान-पत्र 'लेंसेट' में स्पष्ट लिखा है—"संगीत में इतनी बड़ी-बड़ी सम्भावनाएँ दिखाई पड़ती हैं कि वह समय आने में बहुत देर नहीं है, जब रोगियों को देखने के लिए स्टेथेस्कोप और दवाइयों के बक्स के साथ-साथ डाक्टरों को ग्रामोफोन तथा विभिन्न राग-रागिनियों के रेकार्ड भी लेकर जाना पड़ेगा।"

अभ्यास

१—पियानो के सङ्गीत से विक्षिप्तों का सफल इलाज करने के सम्बन्ध में कोई प्रामाणिक उदाहरण दीजिए।

२—सिद्ध कीजिए कि संगीत का प्रभाव मनुष्यों पर ही नहीं, प्रत्युत पशुओं पर भी पड़ता है।

३—संगीत के प्रभाव से उद्योग-धन्धों को भी उन्नत बना सकने के संबंध में अपने विचार व्यक्त कीजिए।

४—संगीत की महत्ता पर एक छोटा-सा निबन्ध लिखिए।

५—निम्नलिखित मुहाविरों का प्रयोग एक-एक वाक्य में कीजिए :—

टूट पड़ना, फूटी आँखों न देखना, जल कर खाक होना, बेड़ा पार होना।

३४—सच्चा धर्म

श्री सेठ गोविन्ददास

[सेठजी का जन्म जबलपुर के सुप्रसिद्ध राजा गोकुलदासजी सेठ के घराने में हुआ है। देश के स्वतंत्रता-संग्राम में आपने सराहनीय त्याग किया है और साहित्य-सेवा में तो आप निरन्तर लगे ही रहते हैं। आप एक सुलेखक, वक्ता, कथाकार एवं नाटककार हैं।

आपने अनेक नाटक भी लिखे हैं। चरित्र की महत्ता एवं आदर्श की रक्षा आपकी रचनाओं की प्रमुख विशेषता है। आप हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति भी रह चुके हैं और भारतीय संसद् के एक सम्मानित सदस्य हैं। हिन्दी को राष्ट्रभाषा स्वीकार कराने के लिए आपने भगीरथ प्रयत्न किया था। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन ने आपको साहित्य-वाचस्पति की उपाधि से विभूषित किया है।]

पात्र

पुरुषोत्तम—दिल्ली-निवासी एक महाराष्ट्र ब्राह्मण
अहिल्या—पुरुषोत्तम की पत्नी
संभाजी—शिवाजी का पुत्र
दिलावरखाँ—औरंगजेब की खुफिया जमात का एक सरदार
रहमान बेग—दिलावरखाँ का मातहत

पहला दृश्य

स्थान—दिल्ली में पुरुषोत्तम के मकान का एक कमरा
समय—मध्याह्न के निकट

[कमरा एक छोटे-से मकान के एक छोटे-से कमरे सदृश दिखाई देता है। कमरे में पुरुषोत्तम बेचैनी से इधर-उधर टहल रहा है। पुरुषोत्तम की अवस्था लगभग साठ वर्ष की है। वह गेहुएँ रंग और साधारण शरीर का मनुष्य है। सिर के बाल मराठी ढंग के हैं, अर्थात् पीछे चौड़ी शिखा है, उसके चारों ओर छोटे-छोटे बाल और उसके चारों तरफ के बाल मुड़े हुए। मुख पर बड़ी-बड़ी मूँछें हैं। सारे बाल तीन चौथाई से अधिक सफेद हैं। वह लाल रंग का रेशमी उपरना ओढ़े हुए है। उसी रंग का रेशमी सोला पहने है। उसके सिर

पर श्वेत चन्दन का त्रिपुण्ड लगा हुआ है और वक्षःस्थल पर मोटा यज्ञोपवीत दिखाई देता है। अहिल्या का प्रवेश। अहिल्या करीब ५५ वर्ष की अवस्था की गेहुएँ रंग और स्थूल शरीर की स्त्री है। बाल बहुत से सफेद हो गये हैं। वह मराठे ढंग की लाल चारखाने की साड़ी और वैसी ही चोली पहने हुए है। कुछ सोने के आभूषण भी पहने है।]

अहिल्या—अभी भी.....अभी भी वही हाल है, कोई निर्णय नहीं हो सका ?

पुरषोत्तम—(खड़े होकर) अहिल्या, प्रश्न कोई साधारण प्रश्न है !

अहिल्या—(बैठकर) कम-से-कम तुम सदृश सत्यवादी व्यक्ति के लिए तो ऐसे प्रश्नों में असाधारणता नहीं होनी चाहिए। जब मनुष्य सत्य का आश्रय छोड़ मिथ्या का आसरा लेता है, तभी तरह-तरह के प्रश्न उठ खड़े होते हैं।

पुरुषोत्तम—(बैठकर आश्चर्य से) सत्य का आश्रय छोड़ मिथ्या का आसरा ! मैं सत्य का आसरा छोड़ मिथ्या का आसरा ले रहा हूँ ?

अहिल्या—और क्या कर रहे हो ? संभाजी को शिवाजी तुम्हारे पास रख गये हैं, यह क्या सच नहीं है ? जो लड़का तुम्हारे पास रहता है वह तुम्हारा भानजा है, यह कहना सच बोलना है ?

पुरुषोत्तम—संभाजी को संभाजी न कहकर अपना भानजा कहना, शिवाजी मेरे पास संभाजी को नहीं रख गये हैं, यह कहना, साधारण सच बोलने से कहीं बड़ा सत्य है।

अहिल्या—तुम्हारी सत्य-प्रियता अधिकांश दिल्ली में प्रसिद्ध है, इसी के कारण यवन तक तुम्हारा आदर करते हैं।

पुरुषोत्तम—अहिल्या, हमारे शास्त्रों में सत्य और असत्य की व्याख्या बड़ी बारीकी से की गई है। अनेक बार सत्य के स्थान पर मिथ्या भाषण सत्य से भी बड़ी वस्तु होता है। जीवन में धर्म से बड़ी कोई चीज नहीं। धर्म की रक्षा यदि असत्य से होती है, तो असत्य सत्य से बड़ा हो जाता है।

अहिल्या—धर्म की रक्षा ! अब तो तुमने और बड़ी बात कह दी। संभाजी को अपना भानजा बनाने से तुम धर्म की रक्षा कर

सकोगे ? दिलावरखाँ कह गया है कि वह उसे तुम्हारा भानजा तब मानेगा, जब तुम उसके साथ बैठकर एक थाली में भोजन करोगे। ब्राह्मण होकर अब्राह्मण के साथ भोजन करने से धर्म-रक्षा हो सकेगी ?

पुरुषोत्तम—(उठकर फिर टहलते हुए) अहिल्या, यही...यही प्रश्न मुझे व्यथित किये हुए है। जीवन-भर मैंने जिस प्रकार धर्म का पालन किया है, उसे तुमसे अधिक और कोई नहीं जानता,...नहीं...नहीं भगवान् तुमसे भी अधिक जानते हैं। (फिर बैठकर) मैंने त्रिकाल-संध्या, तर्पण, हवन इत्यादि सारे ब्राह्मण-कर्म नियम-पूर्वक किये हैं; शौच-अशौच का सदा पूर्ण विवेक रखा है। भक्ष्याभक्ष्य की ओर अधिक ध्यान दिया है; ब्राह्मण को छोड़कर किसी के हाथ का छुआ जल तक ग्रहण नहीं किया, वही...वही मैं इस चौथेपन में अब्राह्मण के साथ बैठकर, एक ही थाली में, कैसे खाऊँगा, यह प्रश्न मुझे व्यथित...अत्यधिक व्यथित किये हुए है। (फिर टहलते हुए) भगवान् इस चौथेपन में क्या मेरी परीक्षा लेना चाहते हैं ? एक अब्राह्मण के साथ भोजन करा मुझे भ्रष्ट करना चाहते हैं ?

अहिल्या—यदि तुमने अब्राह्मण के साथ भोजन किया तो तुम्हीं.....तुम्हीं भ्रष्ट न होगे, सारा कुटुम्ब भ्रष्ट हो जायगा। दो-दो कन्याएँ विवाह योग्य हो गई हैं, किसी ब्राह्मण-कुटुम्ब में उनका विवाह न हो सकेगा। पुत्र का विवाह हो चुका है, तो क्या हुआ ? उसकी संतान तक भ्रष्ट हो जायगी, उसका न यज्ञोपवीत होगा और न ब्राह्मणों में विवाह-संस्कार।

पुरुषोत्तम—(अहिल्या के निकट बैठकर उसकी ओर देखते हुए) तब...क्या करूँ ?

अहिल्या—मैंने तो कहा, जन्म-भर जिसके आश्रय में रहे हो उस सत्य को न छोड़ो। औरंगजेब के सदृश बादशाह के राज्य में, उसकी राजधानी में रहते हुए हिन्दू और ब्राह्मण होते हुए भी, तुम यह सफल जीवन उसी सत्य के आश्रय के कारण बिता सके हो, इस चौथेपन में वह आसरा छोड़ने से बुरी और कोई बात नहीं हो सकती, विशेषकर तब जब उस आसरे का सुफल तुम देख चुके हो।

धर्म की टेढ़ी-मेढ़ी व्याख्याओं में पड़कर अपना जीवन-भर का सीधा मार्ग छोड़ अपने और अपने कुटुम्ब को नष्ट मत करो।

पुरुषोत्तम—तो मैं यह कह दूँ कि यह लड़का शिवाजी का पुत्र संभाजी है, मेरा भानजा नहीं। मिठाई की टोकरी में छिपकर दिल्ली से भागते समय शिवाजी उसे मेरे पास छोड़ गये हैं।

अहिल्या—कम-से-कम तुम्हें सत्य बात के कहने में सोच-विचार करना ही न चाहिए।

पुरुषोत्तम—और इसका परिणाम क्या होगा ?

अहिल्या—परिणाम जो कुछ हो ! तुम सदा कहते नहीं रहे हो कि सत्य बोलने के सम्मुख परिणाम की ओर मनुष्य को दृष्टि ही नहीं डालनी चाहिए।

[पुरुषोत्तम सिर नीचाकर विचारमग्न हो जाता है; कुछ देर निःस्तब्धता]

पुरुषोत्तम—(एकाएक सिर उठाकर) नहीं नहीं..... नहीं, नहीं.....यह कभी नहीं हो सकता, यह कभी नहीं हो सकता। यह.....यह विश्वासघात होगा,.....ऐसा.....ऐसा पातक, जिससे बड़ा पातक सम्भव ही नहीं। यह.....यह शरणागत का बलिदान होगा, ऐसा...ऐसा दुष्कर्म जिससे बड़ा दुष्कर्म हो नहीं सकता।

अहिल्या—पर दूसरी ओर तुम सत्य को तिलांजलि दे रहे हो.....अब्राह्मण के साथ भोजन कर धर्म-भ्रष्ट होने का प्रश्न तुम्हारे सम्मुख है और स्वयं के भ्रष्ट होने का ही नहीं, पर सारे कुटुम्ब के नष्ट हो जाने का.....

पुरुषोत्तम—(उठकर टहलते हुए) ओह ! ओह···ओह !

लघु यवनिका

दूसरा दृश्य

स्थान—दिल्ली की एक गली

समय—मध्यान्ह के निकट

[तंग गली के कुछ मकान दिखाई पड़ते हैं। दिलावरखाँ और रहमान-बेग खड़े हैं। दोनों अधेड़ अवस्था और गेहुएँ रंग के ऊँचे पूरे व्यक्ति हैं। दिलावरखाँ के दाढ़ी भी है। दोनों उस समय की सैनिक वरदी पहने हुए हैं।]

दिलावरखाँ—(विचारते हुए) पंडित पुरुषोत्तमराव झूठ बोलेंगे, ऐसा.....ऐसा यकीन तो नहीं होता।

रहमानबेग—जनाब, तमाम देहली में कौन ऐसा होगा, जो उन्हें जानता हो और यह मानता हो कि वे कभी भी झूठ बोल सकते हैं।

दिलावरखाँ—(उसी प्रकार विचारते हुए) लेकिन, रहमानबेग, यह लड़का दक्खनी बिरेहमन दिखलाता नहीं।

रहमानबेग—सिर्फ सूरत से यह कह सकना कि कौन बिरेहमन है और कौन नहीं, यह तो एक बड़ी मुश्किल बात है।

[कुछ देर निःस्तब्धता, दिलावरखाँ गम्भीरता से सोचता रहता है और रहमानबेग उसकी तरफ देखता है।]

रहमानबेग—(कुछ देर बाद) फिर आपने तो पंडित की बात पर ही यकीन करके मामले को नहीं छोड़ दिया, आपने तो उसे बहुत बड़ा सुबूत देने के लिए कहा है! पुरुषोत्तमराव की बात ही काफी है, फिर अगर वह उस लड़के के साथ बैठकर खाना खा लेता है, तब तो शक की गुंजाइश ही नहीं रह जाती।

दिलावरखाँ—(सिर उठाकर) हाँ, कोई बिरेहमन किसी नीच कौम के साथ बैठकर थोड़े ही खा सकता है।

रहमानबेग—और दक्खनी बिरेहमन मराठा के साथ, चाहे जान निकल जाय तो भी न खायगा।

दिलावरखाँ—पुरुषोत्तम के मानिंद बिरेहमन तो कभी नहीं।

रहमानबेग—कभी नहीं, कभी नहीं।

दिलावरखाँ—(ऊपर की तरफ देखकर) तो दोपहर तो हो ही रहा है। पूजा-पाठ के बाद उसने दोपहर को ही खाने के वक्त बुलाया था।

रहमानबेग—हाँ, वक्त हो रहा है, चलिए, चलिए।

(दोनों का प्रस्थान)

लघु यवनिका

तीसरा दृश्य

स्थान—पुरुषोत्तम के मकान का एक कमरा

समय—मध्यान्ह

[पुरुषोत्तम और अहिल्या बैठे हैं। अहिल्या का मुख प्रसन्नता से खिल-सा गया है। पुरुषोत्तम के मुख पर वैसे ही उद्विग्नता दृष्टिगोचर होती है।]

अहिल्या—(ऊपर की ओर देखकर) धन्यवाद..... अगणित बार धन्यवाद है भगवान् को, कि अन्त में सत्य की उसने विजय करा दी। (पुरुषोत्तम की ओर देख) दिन-भर का भूला-भटका यदि रात को घर लौट आवे तो वह भूला नहीं कहलाता। उद्वेग के कारण तुमने एक बार मिथ्या अवश्य बोल दिया, पर देर...बहुत नहीं हुई, अभी भी समय था। दिलावरखाँ के आने के पहले तक समय था। अब उससे सारी बातें सच-सच कह देने पर मिथ्या भाषण के पाप से तुम मुक्त हो जाओगे। जन्म-भर जिस सत्य का आश्रय रखा है, उसी की शरण में रहने से कोई आपत्ति भी नहीं आयेगी।

[पुरुषोत्तम कोई उत्तर नहीं देता। अहिल्या उसकी ओर देखती रहती है। कुछ देर निःस्तब्धता।]

अहिल्या—(कुछ देर बाद, पुरुषोत्तम की ओर देखते हुए) देखा...देखा नहीं, एक...केवल एक बार सत्य का आसरा छोड़ते ही कैसी...कैसी महान् आपत्ति आई। एक मिथ्या को सत्य सिद्ध करने के प्रयत्न में कितनी मिथ्या बातें कहनी पड़ती हैं। तुम सदृश सत्यवादी से अपने कथन की पुष्टि के लिए प्रमाण माँगा गया, ऐसा वैसा प्रमाण नहीं, भयंकर प्रमाण, महा-भयंकर प्रमाण! तुम्हारा मराठा के साथ, अब्राह्मण के साथ, एक थाल में भोजन करना! ओह! यह...यह कभी संभव था?

[पुरुषोत्तम फिर कुछ नहीं बोलता। पर दृष्टि उठा अहिल्या की ओर देखने लगता है। अहिल्या चुपचाप उसकी ओर देखती है। कुछ देर निःस्तब्धता।]

अहिल्या—(कुछ देर बाद) जन्म-भर का सारा पूजन-अर्चन समाप्त हो जाता! जीवन-भर के सारे नियम-व्रत भङ्ग हो जाते!

[पुरुषोत्तम कुछ नहीं बोलता, पर चुपचाप उठकर टहलने लगता है। अहिल्या कुछ देर तक बैठे-बैठे उसकी तरफ देखती रहती है और फिर उठकर उसी के साथ टहलने लगती है।]

अहिल्या—(टहलते-टहलते) और.....और फिर यह सब किसी अपने के लिए नहीं, दूसरे...दूसरे के लिए।

[पुरुषोत्तम चुपचाप खड़े होकर अहिल्या की ओर देखने लगता है। अहिल्या भी खड़ी हो जाती है।]

अहिल्या—हाँ, क्या.....क्या प्रयोजन है हमें शिवाजी से और उसके पुत्र संभाजी से ? दूसरे के लिए हम क्यों अपना इहलोक और परलोक बिगाड़ें, स्वयं नष्ट हों और अपने कुल को नष्ट करें ? (कुछ रुककर) सोचो.....जरा सोचो तो, कहीं औरंगजेब को पता लग जाय तो औरंगजेब के सदृश बादशाह क्या करें, तुम्हारा और हमारा सारे कुटुम्ब का ?

[पुरुषोत्तम फिर भी कुछ न कह टहलने लगता है। अहिल्या भी उसके साथ टहलती है। कुछ देर निःस्तब्धता।]

अहिल्या—(कुछ देर बाद) ठीक...ठीक समय पर भगवान ने तुम्हें सुबुद्धि दी। सारा हाल सच-सच कह देने से अच्छा निर्णय हो नहीं सकता था। परलोक बचा, क्योंकि मराठा के साथ खाने से जो धर्म जाता, वह धर्म बच गया। इहलोक बचा, क्योंकि राज्य-भय नहीं रह जायगा। इतना.....इतना ही नहीं, संभाजी को पाते ही..... तुम्हारे जरिये पाते ही औरंगजेब कितना.....कितना खुश होगा तुम पर !.....कदाचित्.....कदाचित् तुम मनसबदार हो जाओ; तुम न भी हुए.....अर्थात् तुमने यदि मनसबदारी अस्वीकृत भी कर दी तो.....तो मनसबदार हो सकता है हमारा लड़का।.....उसी सत्य की शरण के कारण, जिसका जीवन.....हाँ, जीवन.....हाँ, जीवन-भर तुमने आश्रय रखा है।

[नेपथ्य में 'पंडितजी !' शब्द होता है।]

अहिल्या—(जल्दी से) लो, लो, कदाचित् दिलावरखाँ आ गया। अब...अब सब बातचीत स्पष्ट रूप में कर लो उससे...(शीघ्रता से प्रस्थान।)

पुरुषोत्तम—(जिसके मुख का रंग ही दिलावरखाँ की आवाज सुन और ही हो गया है, गला साफ करते हुए खिड़की के पास जा, मुख बाहर निकाल, नीचे देखते हुए।) अहाहा ! दिलावरखाँ साहब ! आइए, आ जाइए।

[दिलावरखाँ और रहमानबेग का प्रवेश]

पुरुषोत्तम—आइए, आइए, मैं पूजा से उठ आप ही लोगों का रास्ता देख रहा था। बैठिए, बैठिए।

दिलावरखाँ—(बिछावन पर बैठते हुए) आप भी तो बैठिए पंडितजी।

[दिलावरखाँ और रहमानबेग बिछावन पर बैठ जाते हैं।]

पुरुषोत्तम—पूजा के पश्चात् भोजन तक मैं किसी वस्त्र आदि का स्पर्श नहीं करता। पहले आपको झंझट से मुक्त कर दूँ।

दिलावरखाँ— कुछ सहमते हुए) आपके मुआफ़िक मुअज्जिज शख्स के लिए जो सुबूत मैंने माँगा उसकी कोई जरूरत तो नहीं है, आपकी बात ही सबूत होनी चाहिए, लेकिन.....लेकिन आप जानते हैं कि ये सारे सियासी मामलात...

पुरुषोत्तम—नहीं, नहीं, आप कोई संकोच न कीजिए। अपने कर्त्तव्य का पालन करना धर्म ही है। मैं···मैं भी आपको पूर्ण रूप से सन्तुष्ट कर दूँगा। (जिस दरवाजे से अहिल्या गई है उसी से जाता है।)

रहमानबेग—जनाब, अब भी शक की कोई गुञ्जाइश बाकी है?

दिलावरखाँ—वह खाय तो उस लौंडे के साथ पहले मेरे सामने।

रहमानबेग—पर खाने के बाद?

दिलावरखाँ—खाने के बाद तो शक की कोई गुञ्जाइश ही नहीं रहनी चाहिए।

[दिलावरखाँ और रहमान उत्कंठा से जिस दरवाजे से पुरुषोत्तम गया है, उस दरवाजे की ओर देखते हैं। पुरुषोत्तम का एक हाथ में परसी हुई थाली और दूसरे हाथ में कलश लिये हुए प्रवेश। थाली में भात, दाल, शाक इत्यादि परसे हुए हैं। पुरुषोत्तम को सारी उद्विग्नता नष्ट हो, उसका मुख प्रसन्नता से चमक रहा है। उसके पीछे-पीछे संभाजी आता है। पुरुषोत्तम बिना बिछावन की भूमि पर थाली रखता है, उसी के निकट जल का कलश। थाली के दोनों ओर पुरुषोत्तम और संभाजो बैठ जाते हैं। पुरुषोत्तम भोजन का थोड़ा-थोड़ा अंश निकाल जमीन पर रख थाली के चारों ओर जल छिड़कता है।]

पुरुषोत्तम—(जल छिड़कते हुए) 'सत्यम्त्वरितेन परिषिञ्चामि' (अब आचमन करते हुए) 'अमृतोपस्तरणमसि'।

[अब पुरुषोत्तम और संभाजो दोनों थाली में से खाना आरम्भ करते हैं।]

पुरुषोत्तम—(खाते-खाते) कहिए, खाँ साहब, अब...अब भी आपको विश्वास हुआ या नहीं कि विनायक मेरा भानजा है ?

[दिलावरखाँ का मुख शर्म से झुक जाता है। रहमानबेग कभी दिलावर खाँ की तरफ देखता है और कभी पुरुषोत्तम की ओर।]

यवनिका

अभ्यास

१—पुरुषोत्तम का चरित्र-चित्रण कीजिए।

२—'अहिल्या' के चरित्र पर प्रकाश डालिए।

३—अहिल्या पुरुषोत्तम को किस कारण अपनी विचारधारा से प्रभावित कर रही थी ?

४—इस नाटक के शीर्षक की सार्थकता पर अपने विचार प्रकट कीजिए और इसका एक नया शीर्षक अपनी ओर से दीजिए।

३५—हिमालय

श्री रामधारी सिंह 'दिनकर'

['दिनकर' जी बिहार के प्रतिभाशाली राष्ट्रीय कवि हैं। आजकल आप भारतीय संसद् के सदस्य हैं। आधुनिक कवियों में आपका स्थान अत्यन्त उच्च है। राष्ट्र के अतीत के साथ ही अन्तर की पीड़ा का संयोग स्थापित करके आपने कविता में एक अपूर्व ओज एवं करुणा का संचार किया है।

भारत के भावी स्वर्ण-विहान के स्वप्न की साकारता और देश के विगत वैभव-गान की कमनीयता दिनकरजी की रचनाओं में एक साथ लहराती है। आप समाजवादी विचारधारा के कवि हैं। आपकी कविता में क्रान्ति का भी आह्वान है। आपकी भाषा में ओज और माधुर्य है।

रेणुका, हुंकार, रसवन्ती, कुरुक्षेत्र आदि आपके सुप्रसिद्ध कविता-संग्रह हैं।]

मेरे नगपति ! मेरे विशाल
साकार दिव्य गौरव विराट !
पौरुष के पुंजीभूत ज्वाल !
मेरी जननी के हिम-किरीट !
मेरे भारत के दिव्य भाल !
मेरे नगपति ! मेरे विशाल

युग-युग अजेय, निर्बन्ध, मुक्त !
युग-युग गर्वोन्नत, नित महान् !
निस्सीम व्योम में तान रहे,
युग से किस महिमा का वितान ?
कैसी अखंड यह चिर-समाधि ?
यतिवर ! कैसा यह अमर ध्यान ?
तू महाशून्य में खोज रहा,
किस जटिल समस्या का निदान ?
उलझन का कैसा विषम जाल !
मेरे नगपति ! मेरे विशाल !

ओ मौन तपस्या-लीन यती!
पल-भर तो कर नयनोन्मेष!
रे! ज्वालाओं से दग्ध विकल
है तड़प रहा पद पर स्वदेश!
सुखसिन्धु, पंचनद, ब्रह्मपुत्र,
गंगा-यमुना की अमिय धार!

जिस पुण्य-भूमि की ओर वही,
तेरी विगलित करुणा उदार!
जिसके द्वारों पर खड़े क्रांत
सीमापति! तूने की पुकार—
पद-दलित इसे करना पीछे
पहले ले मेरा सिर उतार।
उस पुण्य-भूमि पर आज तपी
रे! आन पड़ा संकट कराल।
व्याकुल तेरे सुत तड़प रहे
डँस रहे चतुर्दिक विविध व्याल!
मेरे नगपति! मेरे विशाल!

कितनी मणियाँ लुट गईं, मिटा
कितना मेरा वैभव अशेष।
तू ध्यान-मग्न ही रहा, इधर
वीरान हुआ प्यारा स्वदेश!
कितनी द्रुपदा के बाल खुले,
कितनी कलियों का अन्त हुआ।
कह हृदय खोल, चित्तौर यहाँ
कितने दिन ज्वाल वसन्त हुआ।
पूछो सिकताकण से हिमपति!
तेरा वह राजस्थान कहाँ?
वन-वन स्वतन्त्रता-दीप लिये
फिरनेवाला बलवान कहाँ?

तू पूछ अवध से, राम कहाँ?
वृन्दा! बोलो, घनश्याम कहाँ?
ओ मगध! कहाँ मेरे अशोक,
वह चन्द्रगुप्त बलधाम कहाँ?
पैरों पर ही है पड़ी हुई
मिथिला भिखारिणी सुकुमारी।
तू पूछ, कहाँ उसने खोई
अपनी अनन्त निधियाँ सारी?

री कपिलवस्तु! कह बुद्धदेव—
के वे मंगल उपदेश कहाँ?
तिब्बत, इरान, जापान, चीन
तक गये हुए सन्देश कहाँ?

वैशाली के भग्नावशेष से
पूछ लिच्छवी-शान कहाँ?
ओ री उदास गण्डकी! बता—
विद्यापति कवि के गान कहाँ?

तू तरुण देश से पूछ, अरे!
गूँजा यह कैसा ध्वंस राग?
अम्बुधि-अंतस्तल बीच छिपी
यह सुलग रही है कौन आग?

प्राची के प्रांगण बीच देख
जल रहा स्वर्ण-युग अग्नि ज्वाल।
तू सिंहनाद कर जाग यती,
मेरे नगपति! मेरे विशाल!

रे रोक युधिष्ठिर को न यहाँ,
जाने दे उनको स्वर्ग धीर!
पर फिरा हमें गाण्डीव, गदा,
लौटा दे अर्जुन, भीम वीर!
कह दे शंकर से आज करें
वे प्रलय-नृत्य फिर, एक बार।

सारे भारत में गूँज उठे
'हर-हर-बम' का फिर महोच्चार।
ले अँगड़ाई उठ, हिले धरा,
कर निज विराट स्वर में निनाद।
तू शैल-राट ! हुँकार भरे
फट जाय कुहा, भागे प्रमाद !
तू मौन त्याग, कर सिंहनाद।
रे तपी ! आज तप का न काल।
नवयुग शंख-ध्वनि बजा रही
तू जाग, जाग, मेरे विशाल !

अभ्यास

१—कवि ने हिमालय को जगाने की आवश्यकता क्यों अनुभव की ?

२—जिन परिस्थितियों से ऊबकर कवि ने हिमालय को जगाने की चेष्टा की है, क्या वे आज भी विद्यमान हैं ? यदि हाँ, तो किस रूप में ?

३—जिन ऐतिहासिक तथ्यों का स्मरण इस कविता में किया गया है, उनका आपके मन पर क्या प्रभाव पड़ा और क्यों ?

४—समास-विग्रह कीजिए :—

हिमकिरीट, गर्वोन्नत, पंचनद, पददलित, सुख-सिन्धु।

५—कवि ने हिमालय से यह क्यों कहा है कि शंकर से वह पुनः एक बार प्रलय-नृत्य करने का अनुरोध करे ?

३६—हार की जीत

श्री सुदर्शन

[श्री सुदर्शन हिन्दी के बहुत ही लोकप्रिय कहानी-लेखक हैं। आपका जन्म स्यालकोट जिले (पंजाब) में सन् १८९६ में हुआ था। आजकल आप बम्बई में रहते हैं और चलचित्रों के लिए कहानियाँ लिखा करते हैं। आपका वास्तविक नाम बदरीनाथ है और 'सुदर्शन' उपनाम है।

आपकी कहानियाँ न केवल मनोरंजक, प्रत्युत नैतिक होती हैं। कर्मवाद का संदेश उनमें व्याप्त रहता है। भाषा परिमार्जित और मुहाविरेदार होती है।

पुष्पलता, नगीना, पनघट आदि आपके लोकप्रिय कहानी-संग्रह हैं। 'भगवती' नामक एक उपन्यास और 'आनरेरी मजिस्ट्रेट' नामक एक प्रहसन भी आपका प्रकाशित हो चुका है।

'हार की जीत' कहानी में बाबा भारती के चरित्र में अपराधियों को सुधारने का जो उदात्त भाव अंकित किया गया है, वह अपूर्व है। क्षमा से बढ़कर सुधार का दण्ड शायद दूसरा नहीं है। यही रहस्य इस कहानी में उद्घाटित किया गया है।]

[१]

माँ को अपने बेटे, साहूकार को अपने देनदार और किसान को अपने लहलहाते खेत देखकर जो आनन्द आता है, वही आनन्द बाबा भारती को अपना घोड़ा देखकर आता था। भगवद्-भजन से जो समय बचता, वह घोड़े के अर्पण हो जाता। यह घोड़ा बड़ा सुन्दर था, बड़ा बलवान। इसके जोड़ का घोड़ा सारे इलाके में न था। बाबा भारती उसे सुलतान कहकर पुकारते, अपने हाथ से खरहरा करते, खुद दाना खिलाते और देख-देखकर प्रसन्न होते थे। ऐसी लगन, ऐसे आदर, ऐसे स्नेह से कोई सच्चा प्रेमी अपने साजन को भी न चाहता होगा। उन्होंने अपना सब कुछ छोड़ दिया था—रुपया, माल, असबाब जमीन; यहाँ तक कि उन्हें नागरिक जीवन से भी घृणा थी। अब गाँव से बाहर छोटे-से मन्दिर में रहते और भगवान् का भजन करते थे। परन्तु सुलतान के बिछुड़ने की वेदना

उनके लिए असह्य थी। मैं इसके बिना नहीं रह सकूँगा, उन्हें ऐसी भ्रान्ति-सी हो गई थी। वह उसकी चाल पर लट्टू थे। कहते, ऐसे चलता है, जैसे मोर घन-घटा को देखकर नाच रहा हो। गाँवों के लोग इस माया-मोह को देखकर चकित थे। कभी-कभी कनखियों से इशारे भी करते थे; परन्तु बाबा भारती को इसकी परवाह न थी। जब तक संध्या-समय सुलतान पर चढ़कर आठ-दस मील का चक्कर न लगा लेते, उन्हें चैन न आती।

खड्गसिंह इस इलाके का प्रसिद्ध डाकू था, लोग उसका नाम सुनकर काँपते थे। होते-होते सुलतान की कीर्ति उसके कानों तक भी पहुँची, उसका हृदय उसे देखने के लिए अधीर हो उठा। वह एक दिन दोपहर के समय बाबा भारती के पास पहुँचा और नमस्कार करके बैठ गया।

बाबा भारती ने पूछा—'खड्गसिंह क्या हाल है?'

खड्गसिंह ने सिर झुकाकर उत्तर दिया—'आपकी दया है।'

'कहो इधर कैसे आ गये?'

"सुलतान की चाह खींच लाई।"

"विचित्र जानवर है। देखोगे, तो प्रसन्न हो जाओगे।"

"मैंने भी बड़ी प्रशंसा सुनी है।"

"उसकी चाल तुम्हारा मन मोह लेगी।"

"कहते हैं, देखने में भी बड़ा सुन्दर है।"

"क्या कहना, जो उसे एक बार देख लेता है, उसके हृदय पर उसकी छवि अंकित हो जाती है।"

"बहुत दिनों से अभिलाषा थी, आज उपस्थित हो गया हूँ।"

बाबा और खड्गसिंह दोनों अस्तबल में पहुँचे। बाबा ने घोड़ा दिखाया घमंड से। खड्गसिंह ने घोड़ा देखा आश्चर्य से। उसने सहस्रों घोड़े देखे थे; परन्तु ऐसा बाँका घोड़ा उसकी आँखों से कभी न गुजरा था। सोचने लगा, भाग्य की बात है। ऐसा घोड़ा खड्गसिंह के पास होना चाहिए था। इसको ऐसी चीजों से क्या मतलब? कुछ देर तक खड्गसिंह आश्चर्य से चुपचाप खड़ा रहा। इसके पश्चात् उसके हृदय में हलचल होने लगी, बालकों की-सी अधीरता से बोला—"परन्तु बाबाजी, इसकी चाल न देखी तो क्या देखा?"

[२]

बाबाजी मनुष्य ही थे। अपनी वस्तु की प्रशंसा दूसरे के मुख से सुनने के लिए उनका हृदय भी अधीर हो गया। घोड़े को खोलकर बाहर लाये और उसकी पीठ पर हाथ फेरने लगे। एकाएक उचककर सवार हो गए, घोड़ा वायु-वेग से उड़ने लगा। उसकी चाल देखकर, उसकी गति देखकर, खड्गसिंह के हृदय पर साँप लोट गया। वह डाकू था और जो वस्तु पसंद आ जाय, उस पर अपना अधिकार समझता था। उसके पास बाहुबल था, रुपया था, और आदमी थे। जाते-जाते बोला—"बाबा जी, मैं यह घोड़ा आपके पास न रहने दूँगा।"

बाबा भारती डर गए। अब उन्हें रात को नींद न आती थी। सारी रात अस्तबल की रखवाली में कटने लगी। प्रतिक्षण खड्गसिंह का भय लगा रहता। परन्तु कई मास बीत गए, वह न आया। यहाँ तक कि बाबा भारती कुछ लापरवाह हो गए और इस भय को स्वप्न के भय की नाईं मिथ्या समझने लगे।

संध्या का समय था। बाबा भारती सुलतान की पीठ पर सवार होकर घूमने जा रहे थे। इस समय उनकी आँखों में चमक थी, मुख पर प्रसन्नता। कभी घोड़े के शरीर को देखते, कभी रंग को और मन में फूले न समाते थे।

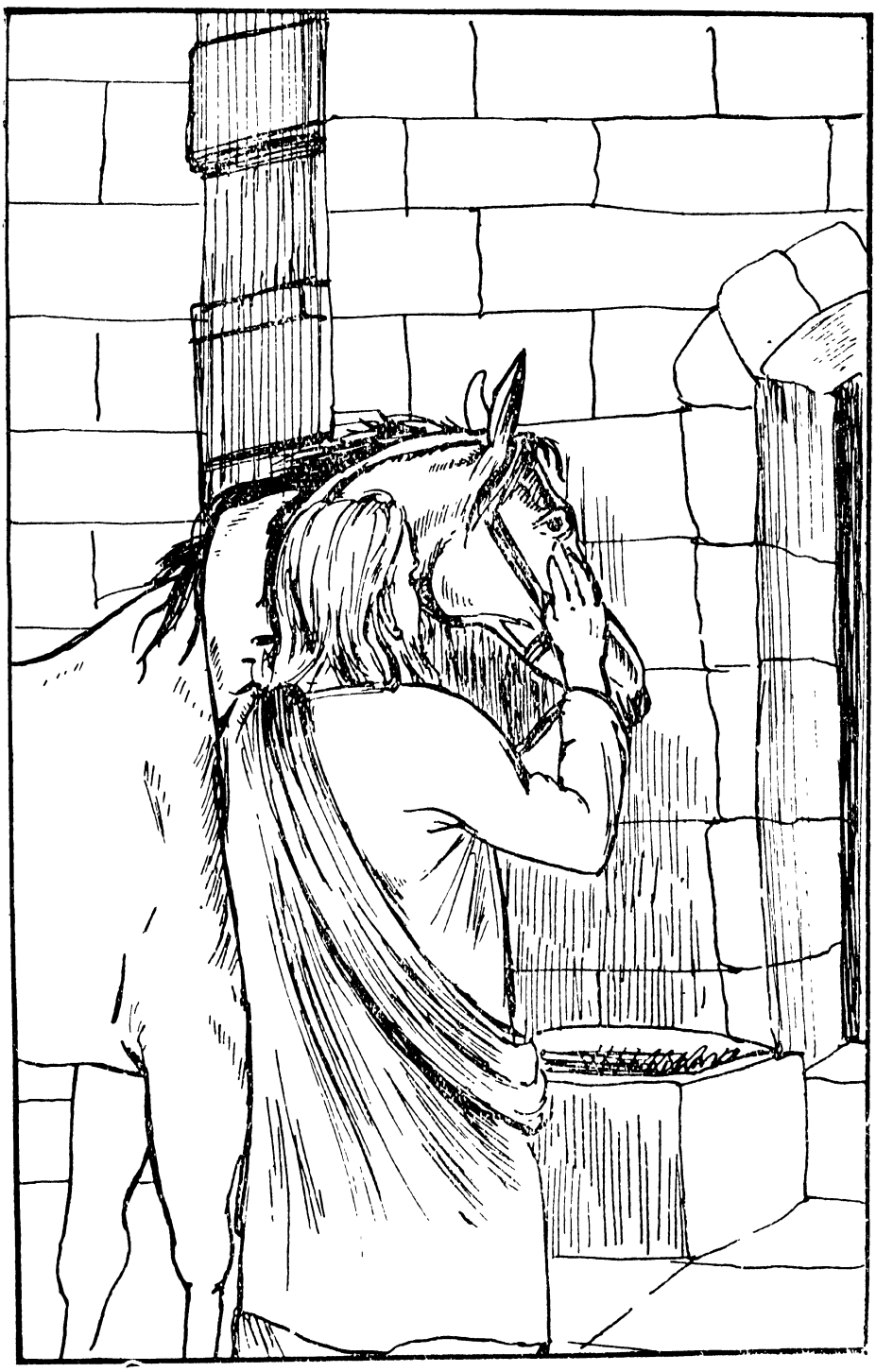
सहसा एक आवाज आई—"ओ बाबा, इस कंगले की भी बात सुनते जाना।"

आवाज़ में करुणा थी, बाबा ने घोड़े को थाम लिया। देखा, एक अपाहिज पड़ा कराह रहा है। बोले—"क्यों तुम्हें क्या कष्ट है?"

अपाहिज ने हाथ जोड़कर कहा—"बाबा, मैं दुखिया हूँ। मुझ पर दया करो। रामाँवाला यहाँ से तीन मील है; मुझे वहाँ जाना है। घोड़े पर चढ़ा लो, परमात्मा तुम्हारा भला करेगा।"

"वहाँ तुम्हारा कौन है?"

"दुर्गादत्त वैद्य का नाम आपने सुना होगा। मैं उनका सौतेला भाई हूँ।"



बाबा भारती घोड़े के गले से लिपट गये।

बाबा भारती ने घोड़े से उतरकर अपाहिज को घोड़े पर सवार किया और स्वयं उसकी लगाम पकड़कर धीरे-धीरे चलने लगे।

सहसा उन्हें एक झटका-सा लगा, और लगाम हाथ से छूट गई। उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा, जब उन्होंने देखा कि अपाहिज घोड़े की पीठ पर तनकर बैठा है और घोड़े को दौड़ाए लिये जा रहा है। उनके मुख से भय, विस्मय और निराशा से मिली हुई चीख निकल गई—यह अपाहिज खड्गसिंह डाकू था।

बाबा भारती कुछ देर तक चुप रहे, और इसके पश्चात् कुछ निश्चय करके पूरे बल से चिल्लाकर बोले—"ज़रा ठहर जाओ।"

खड्गसिंह ने यह आवाज सुनकर घोड़ा रोक लिया और उसकी गर्दन पर प्यार से हाथ फेरकर कहा—"बाबाजी, यह घोड़ा अब न दूँगा।"

"परन्तु एक बात सुनते जाओ।"

खड्गसिंह ठहर गया। बाबा भारती ने निकट जाकर उसकी ओर ऐसी आँखों से देखा, जैसे बकरा कसाई को देखता है, और कहा—"यह घोड़ा तुम्हारा हो चुका। मैं तुमसे इसे वापस करने के लिए न कहूँगा; परन्तु खड्गसिंह, केवल एक प्रार्थना करता हूँ, उसे अस्वीकार न करना; नहीं तो मेरा दिल टूट जायगा।"

"बाबाजी, आज्ञा कीजिए। मैं आपका दास हूँ, केवल यह घोड़ा न दूँगा।"

"अब घोड़े का नाम न लो, मैं तुमसे इसके विषय में कुछ न कहूँगा। मेरी प्रार्थना केवल यह है कि इस घटना को किसी के सामने प्रकट न करना।"

खड्गसिंह का मुँह आश्चर्य से खुला रह गया। उसका विचार था कि मुझे इस घोड़े को लेकर यहाँ से भागना पड़ेगा; परन्तु बाबा भारती ने स्वयं उससे कहा कि इस घटना को किसी के सामने प्रकट न करना। इससे क्या प्रयोजन सिद्ध हो सकता है? खड्गसिंह ने बहुत सोचा, बहुत सिर मारा; परन्तु कुछ समझ न सका। हारकर उसने अपनी आँखें बाबा भारती के मुख पर गाड़ दीं और पूछा—"बाबाजी, इसमें आपको क्या डर है?"

बाबा भारती ने उत्तर दिया—"लोगों को यदि इस घटना का पता लग गया, तो वे किसी गरीब पर विश्वास न करेंगे।"

और यह कहते-कहते उन्होंने सुलतान की ओर से इस तरह मुँह मोड़ लिया, जैसे उनका उससे कभी कोई सम्बन्ध ही न था। बाबा भारती चले गए, परन्तु उनके शब्द खड्गसिंह के कानों में उसी प्रकार गूँज रहे थे। सोचता था, कैसे उच्च विचार हैं। कैसा पवित्र भाव है। उन्हें इस घोड़े से प्रेम था। इसे देखकर उनका मुख फूल की नाईं खिल जाता था। कहते थे, इसके बिना मैं रह न सकूँगा। इसकी रखवाली में वह कई रातें सोए नहीं। भजन-भक्ति के बदले रखवाली करते रहे। परन्तु आज उनके मुख पर चिन्ता की रेखा तक न देख पड़ती थी। उन्हें केवल यह ख़याल था कि कहीं लोग गरीबों पर विश्वास करना न छोड़ दें। उन्होंने अपनी निज की हानि को मनुष्यत्व की हानि पर न्यौछावर कर दिया! ऐसा मनुष्य मनुष्य नहीं देवता है!

[३]

रात्रि के अन्धकार में खड्गसिंह बाबा भारती के मन्दिर में पहुँचा। चारों ओर सन्नाटा था। आकाश पर तारे टिमटिमा रहे थे। थोड़ी दूर पर गाँवों के कुत्ते भोंकते थे। मन्दिर के अन्दर कोई शब्द सुनाई न देता था। खड्गसिंह सुलतान की बाग पकड़े हुए था। वह धीरे-धीरे अस्तबल के फाटक पर पहुँचा। फाटक किसी वियोगी की आँखों की तरह चौपट खुला था। किसी समय वहाँ बाबा भारती स्वयं लाठी लेकर पहरा देते थे। परन्तु आज उन्हें किसी चोरी, किसी डाके का भय न था। हानि ने हानि की ओर से बेपरवा कर दिया था। खड्गसिंह ने आगे बढ़कर सुलतान को उसके स्थान पर बाँध दिया और बाहर निकलकर सावधानी से फाटक बन्द कर दिया। इस समय उसकी आँखों में पश्चात्ताप के आँसू थे।

अंधकार में रात्रि ने तीसरा पहर समाप्त किया, और चौथा पहर आरम्भ होते ही बाबा भारती ने अपनी कुटिया से बाहर निकल ठण्डे जल से स्नान किया। उसके पश्चात् इस प्रकार जैसे कोई स्वप्न चल रहा हो, उनके पाँव अस्तबल की ओर मुड़े। परन्तु फाटक पर पहुँचकर उनको अपनी भूल प्रतीत हुई, साथ ही घोर

निराशा ने पाँवों को मन-मन-भर का भारी बना लिया। वह वहीं रुक गए।

घोड़े ने स्वाभाविक मेधा से अपने स्वामी के पाँवों की चाप को पहचान लिया और जोर से हिनहिनाया।

बाबा भारती दौड़ते हुए अन्दर घुसे और अपने घोड़े के गले से लिपटकर इस प्रकार रोने लगे, जैसे बिछुड़ा हुआ पिता चिरकाल के पश्चात् पुत्र से मिलकर रोता है। बार-बार उसकी पीठ पर हाथ फेरते थे, बार-बार उसके मुँह पर थपकियाँ देते थे और कहते थे—"अब कोई गरीबों की सहायता से मुख न मोड़ेगा।"

थोड़ी देर के बाद जब वह अस्तबल से बाहर निकले, तो उनकी आँखों से आँसू बह रहे थे। ये आँसू उसी भूमि पर ठीक उसी जगह गिर रहे थे, जहाँ बाहर निकलने के बाद खड्गसिंह खड़ा होकर रोया था। दोनों के आँसुओं का उस भूमि की मिट्टी पर परस्पर मेल हो गया।

अभ्यास

१—बाबा भारती ने अपनी निज की हानि को 'मनुष्यत्व की हानि' पर किस प्रकार न्योछावर कर दिया?

२—खड्गसिंह बाबा भारती का घोड़ा क्यों रात्रि में चुपचाप आकर अस्तबल में बाँध गया!

३—इस कहानी में कथाकार ने क्या सन्देश दिया है?

४—समास बताइए :—

माया-मोह, बाहुबल, अस्तबल, लापरवाह।

३७—पत्थर बोलते हैं

श्री हरिकृष्ण देवसरे

[श्री हरिकृष्ण देवसरे हिन्दी के उदीयमान तरुण लेखक हैं। आप रीवाँ में रहते हैं। ऐतिहासिक स्थानों और खँडहरों का अवलोकन कर उन पर अध्ययनपूर्ण प्रकाश डालने में आपकी विशेष रुचि है। आपकी भाषा सरल और शैली रोचक है।]

पत्थर बोलते हैं, घंटों बोलते हैं। उनका एक-एक अंग ही नहीं, रोम-रोम वाचाल होता है। सुननेवाला भले ही थक जाय; किन्तु पत्थर बोलने में नहीं थकते। उनका बोलना साधारण नहीं होता; पूरी रामकहानी होती है। अनेक सुननेवालों के तो दिमाग चकरा जाते हैं, जी ऊब जाता है और उनसे पिण्ड छुड़ाना कठिन हो जाता है। किन्तु सभी पत्थर नहीं बोलते। बोलनेवाले पत्थरों की जाति ही दूसरी होती है। उनका आकार-प्रकार, रूप-रंग, वेश-भूषा और साज-शृंगार अलौकिक होता है। उन्हें जड़ नहीं कहा जा सकता। वे परम चैतन्य होते हैं। एक बात अवश्य है कि पत्थरों की भाषा बहुत कठिन है। उनकी भाषा को समझना और सुबोध अर्थ लगाना टेढ़ी खीर है। विरले ही इस कला में पूरे उतरते हैं।

बोलनेवाले पत्थरों की संख्या कुछ कम नहीं है। लाखों और करोड़ों की गिनती में हैं। भारतवर्ष में चारों ओर उनकी बस्तियाँ फैली हुई हैं। उनकी बस्तियों के नाम—मंदिर, गुहामंदिर, मठ-स्तूप इत्यादि हैं। भारत के जिन प्राचीन राजवंशों के समय बोलनेवाले पत्थरों की आबादी बढ़ी, उन्हीं कालों और राजवंशों के अनुसार उनका नामकरण भी हो गया, जैसे आदिकालीन, मध्यकालीन, मौर्य-कालीन, बौद्धकालीन आदि।

बोलनेवाले पत्थरों के पास पहुँचने-भर की देरी होती है। उन्होंने मनुष्य को देखा नहीं कि बोलना प्रारम्भ कर दिया। युगों की गाथाएँ, इतिहासों के टुकड़े, धर्म-ज्ञान, कला-कौशल कोई भी विषय ऐसा नहीं, जिस पर वे नहीं बोलते। वे बड़े समझदार भी हैं।

जैसा मनुष्य देखते हैं, उससे उसी प्रकार की बातचीत वे करते हैं। हृदय की बात जानने में भी वे बड़े निपुण हैं। जिस मनुष्य का जो विषय होता है, जो भावना होती है, उससे उसी विषय और भावना को लेकर वे बोलते हैं और जड़ मनुष्य के लिए वे भी जड़ बन जाते हैं। उनके सामने वे कौतूहलमय पत्थरों का एक समूह बनकर चुपचाप खड़े रहते हैं।



यह प्रस्तर मूर्ति बोलती है।

विन्ध्य-प्रदेश में बोलनेवाले पत्थरों की अनेक बस्तियाँ हैं, जैसे भरहुत, भुमरा, नचना, खजुराहो आदि। इनमें से कुछ बिलकुल वीरान हो चुकी हैं; केवल भग्नावशेष बचे हैं। कुछ बहुत ही हीन दशा में हैं और कुछ अभी तक अपना अस्तित्व बनाए हुए हैं। राज-

धानी रीवाँ से नौ मील पूर्व गुढ़ जानेवाली सड़क पर बोलनेवाले पत्थरों की एक उजड़ी हुई बस्ती के खँडहर हैं। इन खँडहरों में अब भी बोलनेवाले पत्थरों के दर्शन होते हैं। इस स्थान का वर्त्तमान नाम गोरगी है। इस उजड़ी बस्ती के निवासी सुन्दर, सजीव और अत्यन्त वाचाल हैं। मीलों-लम्बे-चौड़े मैदान में ये अपना अधिकार जमाए हुए हैं। कुछ पथरीली, कँकरीली भूमि पर इधर-उधर झाड़-झंखाड़ों की खिड़कियों से झाँक-झाँककर वे दर्शकों को अपने सौन्दर्य पर मुग्ध तथा आकर्षित करते रहते हैं। कुछ ने पृथ्वी के गर्भ से निकलने का प्रयत्न किया है, लेकिन समय के फेर में पड़कर वे पूर्ण रूप से ऊपर नहीं आ सके। थोड़ा-बहुत ऊपर आने पर ही दुनियावालों के अत्याचारों ने उनके साहस की समाप्ति कर दी। वे जितने निकले थे, उतने ही रह गए। अपने अनेक भाई-बन्धुओं को क्षत-विक्षत देखकर इन सजीव बोलनेवाले पत्थरों का बहुत बड़ा समूह कदाचित् अब तक भूगर्भ में ही विश्राम कर रहा है। कारण यह है कि मानव-समाज ने उन भाई-बन्धुओं के साथ ऐसा बेढंगा व्यवहार किया है कि उन्हें मनुष्य-मात्र से घृणा हो गई।

गोरगी के मैदान में पहुँचते ही चारों ओर से पत्थरों की नाना प्रकार की ध्वनियों से कान फटने लगते हैं। कितने ही अंग-भंग हो कर कराहते हैं, तो कितने ही वर्त्तमान समाज को कोस-कोसकर मानवता की दुहाई देते हैं। अनेक दर्शकों को अपनी दुर्दशा दिखा-दिखाकर बुरी तरह धिक्कारते हैं। आवेश में आकर वे स्वयं रोते हैं और दर्शकों को भी रुलाते हैं।

सन्देह नहीं कि बेचारे इन पत्थरों ने ऐसे दिन भी देखे हैं, जब भूमि पर स्वर्ग का अनुभव होता था। लोग जिसे सोने का संसार कहा करते हैं, वास्तव में वही समय था। आजकल सभ्यता की दुहाई देनेवाला मनुष्य क्या इन बोलनेवाले पत्थरों के तर्कों के सामने ठहर सकता है? कभी नहीं, उसे तो गूँगा बनकर अवाक् रह जाना पड़ता है।

जब उस दिन दर्शकों का एक समूह इन पत्थरों के आकार-प्रकार, भाव-भंगिमा, सौन्दर्य और कला-विधान को देखकर तन्मय हो रहा था, पत्थरों के समूह में से एक पत्थर भी पिघल पड़ा। उसने

दबी जुबान से कुछ अपना परिचय देते हुए बेचारे दर्शकों को खूब खरी-खरी बातें सुनाईं। जिस समय दर्शक हाथों से छू-छूकर उनकी सजीवता का अनुभव कर रहे थे, वह वाचाल पत्थर बोल उठा—"अरे! आजकल के भोले-भाले मानव, तुम हमारी सजीवता को परख रहे हो? हमारे सौन्दर्य से तन्मय हो रहे हो; फिर भी तुमको यह ज्ञान नहीं होता कि हम जड़ पत्थरों को सजीव करनेवाले भी तो तुम जैसे ही हाथ-पैरवाले मानव थे; तुम्हारे ही पूर्वज थे। हमारा यह प्रदेश कौशाम्बी का पड़ोसी ही था। हमें जिन नरेशों का आश्रय मिला था और जिनके प्रोत्साहन से हमें महान् कलाकारों ने ऐसा बना दिया कि आज भी इस दशा में हम तुम्हें मुग्ध कर रहे हैं, उन महान् शक्तिशाली नरेशों की गाथाएँ कौन कहे? न वे आश्रयदाता रह गए और न हमारे निर्माता। अब तो यह वीहड़ स्थान है और हमारे भग्नावशेष।

"अब से लगभग हजार-ग्यारह सौ वर्ष पूर्व यहाँ बड़ी चहल-पहल रहती थी। कोने-कोने में हमारा बोलबाला था। हमारे संरक्षक कलचुरि-नरेश थे। उनको हम बोलनेवाले पत्थरों से बड़ा प्रेम था। वे हमारी भाषा के ज्ञाता थे। इसलिए उनकी दृष्टि में हमारा बहुत मूल्य था। हम भी ऐसे संरक्षकों को पाकर अपने को धन्य समझते थे।

"इस समय तुम लोग इस स्थान को गोरगी के नाम से पुकारते हो; किन्तु इसका वास्तविक नाम गोरगी नहीं, गोलकी है।

"कदाचित् आज का गोरगी उसी गोलकी का अपभ्रंश है। प्राचीन काल में इस गोलकी में एक बहुत बड़ा मठ था और उसी के कारण यह स्थान प्रतिष्ठित था। कलचुरि नरेश महाराज युवराजदेव ने उस मठ को बहुत बड़ी आर्थिक सहायता प्रदान कर रक्खी थी। उस समय हम सभी बोलनेवाले प्रस्तर गोलकी मठ तथा राजप्रासादों की शोभा थे। केवल यही नहीं, पड़ोस में दूर-दूर तक हमारा अधिकार था। तुमने घूम-फिरकर देखा होगा कि जहाँ-तहाँ जो भग्न दीवारें खड़ी हुई हैं, गोलकी मठ के प्राचीरों के ही चिन्ह हैं। अनभिज्ञता से आजकल लोग उन्हें किसी दुर्ग के प्राचीर के भग्नावशेष समझते हैं। वर्त्तमान रीवाँ किले में पूर्व की ओर जो पुतरिया दर-

वाजा है, वह गोलकी मठ का ही है। हमारी तरह उस द्वारा का भी एक-एक अंग बोलनेवाला है। खेद तो इसी का है कि इस समय कोई हमारी भाषा समझनेवाला नहीं। हमारे मनोभावों को समझना हमारी भाषा पर ही निर्भर है। गुप्तकालीन बोलनेवाले पत्थर ही तो हमारे पूर्वज हैं। हम सब उनकी ही सन्तान हैं और उनके पूर्वज भरहुत के पत्थर हैं। इस प्रान्त में हमारा आदिस्थान भरहुत ही है।



वाचाल पत्थर

"सन् ईसवी के २५७ वर्ष पूर्व हमारे आदिपुरुषों ने भरहुत में ही कलामय होकर वाचाल शक्ति प्राप्त की थी। उसके पश्चात गुप्त नरेशों के प्रेम और उद्योग से सुमरा तथा नचना में हमारे पूर्वजों का प्रभुत्व फैला। मध्ययुग में कलचुरि नरेशों के प्रेम-व्यवहार तथा

दान-शीलता के कारण गोलकी मठ तथा आस-पास के अनेक सुरम्य स्थानों में हमारी कला का प्रसार हुआ। केन्द्र स्थान गोलकी ही था। तुमने सुना होगा कि अभी हाल ही में हमारे एक परिवार का निवास-स्थान ब्योहारी तहसील के निकट होने का पता लगा है। किन्तु भूगर्भ से ऊपर आने पर उन बोलनेवाले पत्थरों की जो दुर्गति हुई, वह कहने की बात नहीं।

"हमारे अगणित साथी ऐसे बोलनेवाले हैं कि आप लोगों को पागल बना दें। किन्तु समय के फेर से मुँह ढाँके हुए भूगर्भ में पड़े सो रहे हैं। एक प्रकार से उनका सोना ही अच्छा है, क्योंकि जो अभागे, हम जैसे तुम लोगों के सम्पर्क में आ गए, वे अपने भाग्य पर आठ-आठ आँसू रो रहे हैं। अनेक तो अपने जीवन से ही हाथ धो बैठे। कला के दुश्मनों ने उनके सरों को काट-काटकर कूड़ियाँ बनाकर चार-चार पैसों में बेच डालीं। उनके शरीर की गिट्टी बनाकर सड़कें कूटी गईं। जिन पत्थरों को रूप-रंग देने तथा उन्हें वाचाल बनाने में कलाविदों को चोटी से एड़ी तक पसीना बहाना पड़ा, कला के उन्हीं आदर्शों को तोड़-फोड़कर कूड़ियाँ बनाई जायँ? देश, जाति और कला का यह कैसा पतन है!

"रीवा के किले में हमारे एक साथी बड़े आकारवाले पत्थर को देखिए, जो गणेश का रूप धारण किए बैठा है। वहीं पद्मधर पार्क में 'हरगौरी' की आकृतिवाले पत्थर पर दृष्टि डालिए। उनसे कला का विधि-विधान पूछिए और समझिए। लेकिन ऐसे वाचाल और रूप-रेखावाले कला के आदर्शों को देखने और उनकी भाषा समझने के लिए दूसरी ही आँखें और मस्तिष्क की आवश्यकता है। वर्त्तमान मानव-समाज में तो हमें इसका अभाव ही दीख पड़ता है।

"प्रिय दर्शको! तुम सोच रहे होगे कि ये पत्थर बोलते क्या हैं? उन्हें तुमने निरा हृदयहीन समझ लिया है। हम पूछते हैं, यदि ऐसा नहीं है, तो तुमने कभी हमारी ओर ध्यान भी दिया है? गोलकी मठ के विषय में कुछ जानकारी प्राप्त की है? कभी यहाँ की खुदाई की है? हमारे सोते हुए साथियों को जगाने की चेष्टा की है? युग पर युग बीत गए, किन्तु तुमने कौतूहलवश भी कुछ न किया। इन सबके बदले में जहाँ-तहाँ लुके-छिपे हमारे भाई-बंधुओं को अंग-भंग

करके निर्जीव अवश्य बना दिया। क्या इसी का नाम मानवता है? अरे! लाखों में कहीं कोई एक हृदयवाला मिल गया, तो उसने हमारी दुर्दशा देखकर आँखों से पानी की दो बूँदें टपका दीं या हमें उठाकर किसी विचित्रागार में रख दिया। तो क्या इससे हमारा उद्धार हो गया?

"वर्त्तमान समय में लोग प्राचीन स्थानों को देखकर प्रभावित भी हो जाते हैं और उसका इतिहास जानने के इच्छुक भी हैं। किन्तु उसके लिए परिश्रम करना बहुत कम जानते हैं। उसी प्रकार तुम्हें भी मेरे इतिहास को खोज करनी है? वेंकट विद्या सदन, रीवाँ में रखे हुए उस शिलालेख को देखकर ही तुम इधर आकर्षित हुए हो, जिसमें गोलकी मठ को महाराज युवराजदेव द्वारा तीन लाख आय के ग्राम को ही दान में दे देने की चर्चा है। ठीक है, तुम्हारा उद्योग सराहनीय है। मगर इतने ही से काम नहीं चल सकता। इस प्रकार के शिलालेख आदि तो प्रचुर संख्या में यहाँ पग-पग पर दबे हैं।"

शिलालेख ही क्या, इतिहास से सम्बन्ध रखनेवाली निधियाँ यहाँ भरी पड़ी हैं; किन्तु उन्हें प्राप्त करना आसान नहीं है। उसके लिए तन, मन, धन तीनों की आवश्यकता है। परन्तु गोलकी मठ की महान् निधियों के लिए अभी यह बात कोसों दूर मालूम होती है। उनके भाग्य में संभवतः भू-गर्भ ही में पड़े-पड़े करवटें बदलना लिखा है।

अभ्यास

१—इस निबन्ध के आधार पर सिद्ध कीजिए कि पत्थर बोलते हैं और उनका रोम-रोम वाचाल होता है।

२—कुछ बोलनेवाले पत्थरों से आपने कभी कुछ सुना हो, तो उस पर सरल भाषा में एक निबन्ध लिखिए।

३—निम्नलिखित का अर्थ समझाइए और एक-एक वाक्य में प्रयोग कीजिए—रामकहानी, दिमाग चकरा जाना, टेढ़ी खीर, पिण्ड छुड़ाना, करवट बदलना।

४—पाँच ऐसी कहावतों का उल्लेख कीजिए, जो इस निबन्ध में प्रयुक्त न हुई हों।

५—कहावतों की उत्पत्ति पर अपने विचार प्रकट कीजिए।

६—कहावतों और मुहाविरों में क्या अन्तर है? दोनों के पाँच-पाँच उदाहरण दीजिए।

३८—कहानी-जगत् का चक्रवर्ती सम्राट् : ईसप

[संकलित]

[उत्तर ध्रुव से लेकर दक्षिणी ध्रुव तक जहाँ भी साक्षरता का प्रसार है, वहाँ ईसप के सब ऋणी हैं। अक्षर-ज्ञान के बाद ईसप की कहानियों के ज्ञान-तंतु पकड़कर ही आगे की मंजिल तय की जाती है। कथा-जगत् के इसी अविस्मरणीय व्यक्ति का संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जा रहा है।]



ईसा के ६०० वर्ष पहले एक गुलाम-परिवार में ईसप का जन्म हुआ था। एक तो गुलाम, दूसरे कुरूप और दुर्बल! ईसप का सारा बाल्यकाल घृणा एवं हिकारत के ही वातावरण में बीता। वह सामंतवाद का क्रूर युग था, जिसमें मनुष्यों को दास के रूप में पशुओं की तरह खरीदा-बेचा जाता था। दास-परिवार में उत्पन्न होने के कारण ईसप भी कई बार खरीदा और बेचा गया था।

ooo ooo ooo

कारवाँ चलने की तैयारी कर रहा था। एफेसस का लम्बा रास्ता तय करना था। अब चलने में देर सिर्फ इतनी थी कि प्रत्येक व्यक्ति को ले चलने के लिए गठरियाँ बाँट दी जायँ। ईसप के हिस्से में जो गट्ठर पड़ा, वह इतना भारी था कि ईसप उसे मुश्किल से उठा

सकता था। इसलिए उसने कई साथियों से प्रार्थना की कि उसे कोई और हलका बोझ मिल जाय। साथियों को उसकी दुर्बलता देखकर दया आ गई और उन्होंने कहा कि तुम चाहे जो भी गट्ठर चुन लो। ईसप एक-एक करके सभी गट्ठरों के पास गया और जब उसने रोटियों एवं खाद्य-सामग्री का गट्ठर चुना, तो सारा कारवाँ हँस पड़ा। बात यह थी कि यह गट्ठर औरों की अपेक्षा हलका नहीं, वरन् अधिक भारी था।

०००　　०००　　०००

कारवाँ अब काफी रास्ता तय कर चुका था और विश्राम करने तथा खाने-पीने का समय आ चुका था। लोगों ने ईसप की गठरी में से रोटियाँ निकालकर खाईं। तीसरे पहर फिर पड़ाव पर कारवाँ उतरा और लोगों ने गठरी की आधी रोटियाँ खत्म कर दीं और शाम तक तो काफिले ने शेष खाद्य सामग्री भी खत्म कर दी। इस प्रकार ईसप की गठरी खाली हो चुकी थी। रास्तें भर खाली टोकरी ही उसे ढोनी थी।

कारवाँ एफेसस पहुँचा, तो शीघ्र ही सारे गुलामों को तख्तियाँ पहनाकर बाजार में बिकने के लिए खड़ा कर दिया गया। गुलामों के क्रय-विक्रय की यही प्रणाली थी। तख्तियों पर उनके गुण लिखे रहते थे। तीन को छोड़कर बाकी सभी गुलाम तत्काल बिक गये। जो तीन बचे थे, उनमें एक था वक्ता, दूसरा गायक और तीसरा ईसप।

वे तीनों गुलाम अब समोस के बाजार में ले जाये गये। वक्ता ने एक लम्बा कुरता पहन रखा था, जो उन दिनों यूनानी वक्ताओं की विशेष पोशाक थी और गायक ने लम्बे-लम्बे चप्पल। बेचारे ईसप के पास कुछ भी न था। वह उन दोनों के बीच में अपनी कुरूपता लिये खड़ा था!

थोड़ी देर बाद दार्शनिक जान्थुस अपने शिष्यों-सहित बाजार में घूमने आया। उसकी दृष्टि उन दासों की ओर गई। वह उधर गया। यह पूछने पर कि वह क्या काम कर सकता है, उस दास ने—जिसके गले में वक्ता होने की तख्ती लटक रही थी, उत्तर दिया—"कुछ

भी"। गायक से पूछने पर उत्तर मिला—"सब कुछ।" अब ईसप से भी उसने वही प्रश्न किया—"तुम क्या कर सकते हो?"

ईसप ने उत्तर दिया—"महोदय, मेरी बायीं तरफ का वक्ता 'कुछ भी' कर सकता है और दाहिनी ओर का गायक 'सब कुछ'; तो मेरे करने के लिए अब भला शेष रह ही क्या गया?"

एक अदने दास के मुख से ऐसी युक्ति-युक्त बात सुनकर जान्थुस की दिलचस्पी ईसप की ओर बढ़ी और उसने और भी कई सवाल उससे पूछे। उसे बड़ा आश्चर्य हुआ—प्रत्येक उत्तर नपा-तुला, मार्मिक और बुद्धिमत्तापूर्ण था। अंत में, जान्थुस ने पूछा—"अगर मैं तुम्हें खरीद लूँ, तो क्या तुम सदा ईमानदारी के साथ रहोगे!"

जान्थुस के प्रलम्ब शरीर पर अपनी छोटी-छोटी तीक्ष्ण आँखें गड़ाते हुए ईसप ने उसी दृढ़ स्वर में कहा—"ईमानदार मैं सदैव ही रहा हूँ। आप मुझे खरीदें या न खरीदें; मेरी ईमानदारी में कमी न आने पायगी।"

जान्थुस ईसप के इस उत्तर से बड़ा प्रभावित हुआ। उसने विक्रेता के पास जाकर उसका दाम पूछा। विक्रेता ईसप की विक्री को लेकर निराश हो चुका था। इसलिए उसने कहा कि अगर दूसरे गुलामों में से कोई एक वह खरीद ले, तो ईसप को वह मुफ्त दे देगा। ईसप से वह पिंड छुड़ा लेना चाहता था।

जान्थुस ने ईसप को खरीद तो लिया; पर उसके सामने बड़ी कठिन समस्या यह हो गई कि अगर ईसप की कुरूपता को देखकर पत्नी का पारा कहीं चढ़ गया, तो वह उसे कैसे ठंडा करेगा?

वास्तव में हुआ भी वही। ईसप को देखते ही पत्नी उबल उठी। उसने कहा कि अगर ऐसे जंगली जानवरों को तुम्हें घर में बटोरना है, तो साफ क्यों नहीं कहते कि मुझसे घृणा करते हो! क्या बाजार में और दास थे ही नहीं? क्रोधावेश में वह पति को फटकारने लगी और अन्त में सिसककर रो पड़ी—"मैं नहीं जानती थी कि तुम मुझसे इतनी घृणा करते हो?"

जान्थुस ने पत्नी को बहुतेरा समझाया-बुझाया; पर वह टस-से-मस न हुई। उधर ईसप चुपचाप निर्जीव मूर्त्ति की तरह खड़ा था। लाचार जान्थुस का रोष ईसप पर गया। उसने क्रुद्ध होकर

कहा—"अरे मूर्ख, इस तरह मुर्दे की तरह खड़ा-खड़ा क्या कर रहा है ? दूसरी जगहों पर तो तेरी जुबान कैंची हो जाती है और यहाँ तेरी मालकिन मुझे कोस रही है फिर भी तेरे मुँह पर ताला लगा हुआ है !"

ईसप आगे बढ़ा और उसने बड़े विनम्र भाव से एक यूनानी कहावत कही, जिसका आशय था—"हे ईश्वर! हमें आग, पानी और दुष्ट स्त्री से बचा !"

सुनकर जान्थुस की पत्नी को तो मानो बिच्छू ने काट लिया !

किन्तु अपनी बुद्धिमत्ता के कारण थोड़े ही दिनों में ईसप परिवार का प्रियतम नौकर बन गया—यहाँ तक कि श्रीमती जान्थुस भी उसे हृदय से चाहने लगीं।

ईसप की जिन्दगी मजे में कटने लगी। ज्ञानी जान्थुस का व्यवहार तो दास की अपेक्षा मित्र की भाँति ही था।

एक दिन की बात है। दोनों पति-पत्नी में किसी बात को लेकर विवाद छिड़ गया। पत्नी से बर्दाश्त नहीं हुआ। आवेश में वह उठी और मायके चल पड़ी।

पहले तो जान्थुस ने लापरवाही दिखाई। पर थोड़े दिनों के बाद ही घर बड़ा सूना-सूना-सा मालूम होने लगा—जैसे घर का प्राण ही निकल गया हो !

ईसप मानवीय सम्बन्धों की अच्छी जानकारी रखता था। वह जानता था कि सुंदर, प्रतिभाशाली तरुणों को भी नारी-प्रेम के लिए कभी-कभी बहुत ऊँचा मूल्य चुकाना पड़ता है। श्रीमती जान्थुस जब से गई थीं, तभी से वह अपने मालिक की दशा देख रहा था और सोच रहा था कि किस उपाय से मालकिन को घर वापस लाया जाय। अंत में, उसे एक बात सूझी और अपने मालिक के पास जाकर उसने कहा—"मेरे पास एक ऐसा उपाय है, जिससे मालकिन को न केवल घर लाया जा सकता है, बल्कि उन्हें सदा के लिए मेमने की भाँति सरल भी बनाया जा सकता है !"

जान्थुस एकदम उत्सुक हो उठा।

ईसप ने कहा—"आप बाजार में जाकर मछली-मांस के विक्रेताओं को बाजार की सर्वोत्तम मछलियाँ और मांस घर पहुँ-

चाने का हुक्म दीजिए और फल-फूल एवं तरकारियाँ मँगवाने की व्यवस्था कीजिए। आगे की बातें आप मुझ पर छोड़ दीजिए।"

उन दिनों सारे एशिया में डोरिका के सौंदर्य की ख्याति फैल रही थी। 'एशिया का गुलाब' के नाम से वह कवियों के काव्य की प्रेरणा बनी थी। थी वह भी दासी ही। जान्थुस उसका भी मालिक था। ईसप की इस सुंदरी से मित्रता हो गई थी।

थोड़े दिनों बाद सर्वत्र यह अफवाह फैल गई कि पत्नी के चले जाने के बाद जान्थुस दूसरी शादी करना चाहता है। इसके लिए उसने डोरिका को चुना है।

× × × ×

घर सजाया जा रहा था। बंदनवार टँग रहे थे कि अकस्मात् एक घोड़ा हाँफता हुआ दरवाजे पर आकर खड़ा हो गया। घोड़े के मुँह से झाग गिर रहा था और बदन पर कई जगह कोड़े के निशान थे।

नौकर-चाकर सभी चकित रह गए, जब उन्होंने देखा कि घोड़े से उतरनेवाली उनकी मालकिन श्रीमती जान्थुस है। वह तत्काल भीतर गई और तड़प-तड़पकर कहने लगी—"देखती हूँ, किस रमणी का पाँव इस घर में पड़ता है?"

पल-भर में सारा दृश्य ही बदल गया। जान्थुस बड़ा प्रसन्न था। उसके घर में गृहलक्ष्मी ने फिर से प्रवेश किया था। अतः उसने इस खुशी में अपने मित्रों को एक भोज देने की व्यवस्था की। उसने ईसप से कहा—"मेरे मित्रों को निमंत्रित करो और उन्हें सर्वोत्तम पकवान खिलाने की व्यवस्था करो।"

ईसप ने भोज का प्रबंध किया। अतिथियों के सामने तरह-तरह के व्यंजनों के बदले उसने केवल पकायी हुई जीभ ही परोसी। अतिथि इंतजार कर रहे थे कि दूसरी कोई चीज भी रखी जायगी। मगर ईसप ने बार-बार जीभ की ही मनुहार की। जान्थुस बहुत बिगड़ा। ईसप ने अतिथियों के सामने ही कहा—"मालिक, आपने सर्वोत्तम पकवान के भोज की आज्ञा दी थी। क्या जीभ से बढ़कर भी कोई उत्तम पदार्थ है?"

थोड़े दिनों बाद जान्थुस ने फिर दूसरे भोज की व्यवस्था

करने के लिए ईसप से कहा। इस बार उसने अतिथियों के लिए ईसप को सबसे बुरे व्यंजनों का भोजन तैयार कराने की आज्ञा दी।

ईसप ने फिर जीभों को ही परोसा। जान्थुस क्रोध से आग-बबूला हो उठा। उसने गरजकर कहा—"इसका क्या मतलब कि कल जीभ संसार की सर्वोत्तम चीज थी और आज ही वह संसार में सबसे बुरी भी हो गई...?"

ईसप ने क्षमा की प्रार्थना करते हुए कहा—"मालिक, आप ही बताइए, संसार में ऐसी कौन-सी बुराई है, जो जीभ से नहीं हो सकती—हत्या, षड्यंत्र, हिंसा, घृणा—सबका उद्गम यह जीभ ही तो है!".....

ईसप ने पहली बार दासता से मुक्ति पाने की कोशिश की, जब उसके मालिक ने उससे एक ऐसा कागज पढ़ने के लिए कहा, जिसे वह स्वयं पढ़ने में असमर्थ था। ईसप ने उस कागज की इबारत पढ़ दी, जिससे जान्थुस को अशर्फियों का एक बड़ा घट जमीन के भीतर से मिल गया। मगर जान्थुस अपने वादे से मुकर गया—उसने ईसप को मुक्त नहीं किया।

कुछ दिन बाद समोस की राजसभा ने जान्थुस को बुलाया और उससे एक दैवी घटना का रहस्य पूछा। यह घटना कुछ दिन पूर्व नगर में घटी थी। जान्थुस की समझ में कुछ न आया। कोशिशें तो बहुत कीं। उसने ईसप से सहायता की प्रार्थना की। ईसप ने मालिक से प्रार्थना की कि राजसभा में ही वह इस घटना का अर्थ बता सकता है, अन्यथा नहीं। जान्थुस राजी हो गया; क्योंकि रहस्य का पता न लगता, तो उसे स्वयं दंडित होना पड़ता।

यथासमय ईसप सभा में उपस्थित हुआ। सभासदों को सम्बोधित कर बोला—"महानुभावो, किसी दास को क्या कानूनन् इस प्रकार के रहस्योद्घाटन का अधिकार है? कृपया मुझे दासत्व से मुक्त कीजिए, तब समस्या का समाधान करवाइए।"

दैवी घटना बड़ी भयावह थी। सारी राजसभा भयभीत थी। अतः सभी सदस्यों ने एक-स्वर से ईसप को मुक्त करार दे दिया। जान्थुस ने भी अपनी उदारता का परिचय देते हुए छुटकारे की रकम लेने से इनकार कर दिया।

इस प्रकार मुक्ति प्राप्त करके ईसप ने कहा—"आप लोगों ने उस दैवी घटना में जो चील को आकाश में उड़ती हुई देखा है, वह एक महान् सम्राट के आक्रमण की सूचना है और उसने जो एक गुलाम की गोद में अँगूठी गिराई है, उसका अर्थ है कि अगर आप लोगों ने समय रहते ही सतर्कता से काम नहीं लिया, तो गुलामी वरण करनी पड़ेगी।"

ईसप की भविष्यवाणी सही निकली। कुछ ही दिन बाद लीडिया के राजा क्रूसस ने अपना राजदूत भेजकर समोस से राज्य-कर माँगा और न देने पर शीघ्र ही आक्रमण कर देने की धमकी दी।

इस घटना से ईसप की बुद्धिमत्ता की ऐसी धाक अधिकारियों पर जमी कि दूसरे राजदूतों की सभा ने भी उसे लीडिया के राजा क्रूसस से संधि-वार्ता के लिए भेजा।

किन्तु क्रूसस की नजर जब उस कुरूप-कुबड़े ईसप पर पड़ी, तो उसने असीम घृणा से अपना मुँह फेर लिया।

ईसप ने अनुनय-विनय करते हुए कहा, "श्रीमंत, मेरी एक छोटी-सी कहानी तो कृपया आप सुन लीजिए। फिर जैसा चाहें, वैसा कीजिए।" क्रूसस ने कहा—"अच्छा, सुना!" ईसप ने कहना शुरू किया—"एक बार एक लड़का शिकार खेलने के लिए निकला। लेकिन शिकार के बजाय उसने एक चिड़िया पकड़ी। चिड़िया ने लड़के से गिड़गिड़ाते हुए कहा—'मैंने आज तक किसी को हानि नहीं पहुँचाई और न भविष्य में ही पहुँचाऊँगी। मेरा काम तो निरंतर गाते रहना है। आपको मुझे मार डालने से क्या मिलेगा?' भावुक बालक का हृदय पिघल गया और उसने चिड़िया को छोड़ दिया। सो महाराज के सामने भी वैसा ही एक निरीह पक्षी खड़ा है। मेरे पास अधिक-से-अधिक मेरी वाणी है, जिसका मैंने सदा मानव-कल्याण के लिए ही उपयोग किया है।"

उसकी चतुराई से राजा बड़ा प्रसन्न हुआ। उसने ईसप के कहने से समोस के साथ शांतिपूर्ण संधि की बात स्वीकार कर ली।

अतः जब ईसप समोस लौटा, तो उसका बड़ा स्वागत किया गया। सभासदों ने सभा-भवन में उसकी प्रस्तर-प्रतिमा बनवाकर प्रतिष्ठित की।

यूनान के सात विद्वानों की उन दिनों अक्सर चर्चा हुआ करती थी। ईसप उनसे मिलने के लिए लालायित था। वह वहाँ गया। पर उसने उन्हें परम दम्भी एवं पाखंडी ही पाया। आवेश में उसने एक कहानी सुना डाली, जिसमें उनकी तुलना कूड़े के ढेर से की गई थी।

ईसप की इन खरी बातों ने सारे विद्वानों को उसका शत्रु बना दिया और सबने उससे बदला लेने का संकल्प कर लिया।

एक समय जब ईसप बाहर गया हुआ था, तो उन्होंने उसके सामान में एक कीमती मदिरा-पात्र छिपाकर रख दिया। दूसरे ही दिन ईसप के विरुद्ध चोरी का मामला चलाया गया। ईसप ने आत्म-रक्षा की चेष्टा की; मगर उस शैतान-मंडली के सामने उसकी कुछ न चली।

अदालत ने ईसप को पर्वत पर से ढकेल देने की सजा दी। इस प्रकार इस सरस्वती-पुत्र का अकाल में ही अंत हो गया।

अभ्यास

१—ईसप की कहानी-संसार का चक्रवर्त्ती सम्राट् क्यों माना जाता है?

२—थक जाने पर भी कारवाँ में ईसप ने खाद्य-सामग्री का भारी गट्ठर ढोना क्यों पसन्द किया था?

३—ईसप को किस प्रकार दासत्व से मुक्ति मिली?

४—ईसप के वाक्-चातुर्य्य का कोई उदाहरण दीजिए।

५—निम्नलिखित वाक्य की पद-व्याख्या कीजिए :—

ईसप की इन खरी बातों ने सारे विद्वानों को उसका शत्रु बना दिया और सबने उससे बदला लेने का संकल्प कर लिया।

३६—आँख का आँसू

श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

[हरिऔधजी का जन्म-संवत् १९२२ और मृत्यु-संवत् २००४ है। आप सनाढ्य ब्राह्मण थे। आपका जन्म-स्थान निजामाबाद (आजमगढ़, उत्तर-प्रदेश) था।

कानूनगो के पद पर लगभग २० वर्ष रहकर आपने पेंशन ले ली और उसके बाद आजीवन काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में हिन्दी-अध्यापक रहे।

'प्रिय-प्रवास' आपका सर्वोत्कृष्ट प्रबन्ध-काव्य है। संस्कृत-पद-विन्यास और संस्कृत-छन्द-योजना इस ग्रन्थ की अनुपम विशेषताएँ हैं। इसमें आपने कृष्ण के प्रति यशोदा, गोपियों तथा राधा के स्नेह-वर्णन द्वारा मनोभावों का सूक्ष्म विश्लेषण किया है। समाज-सेवा के महत्त्व पर भी इसमें स्तुत्य प्रकाश डाला गया है।

बोलचाल, चोखे चौपदे, चुभते चौपदे आदि अनेक काव्य ग्रन्थ आपने लिखे हैं, जिनमें बोलचाल की, किन्तु मुहाविरेदार भाषा का प्रयोग किया है।

रस-कलस, ठेठ हिन्दी का ठाठ आदि आपकी गद्य-पुस्तकें हैं। गद्य-पद्य दोनों की रचना करने में आप सिद्धहस्त थे। आप 'कवि-सम्राट्' कहे जाते थे।]

आँख का आँसू ढलकता देखकर
जी तड़प करके हमारा रह गया।
क्या गया मोती किसी का है बिखर
या हुआ पैदा रतन कोई नया ॥१॥
ओस की बूँदें कमल से हैं कढ़ी
या उगलती बूँद हैं दो मछलियाँ।
या अनूठी गोलियाँ चाँदी मढ़ी
खेलती हैं खंजनों की लड़कियाँ ॥२॥
या जिगर पर जो फफोला था पड़ा
फूट करके वह अचानक बह गया।

हाय ! था जो अरमान इतना बड़ा
आज वह कुछ बूँद बनकर रह गया ॥३॥
हो गया कैसा निराला यह सितम
भेद सारा खोल क्यों तुमने दिया।
यों किसी का है नहीं खोते भरम
आँसुओ ! तुमने कहो यह क्या किया ॥४॥
बान अपनी ही सुनाते हैं सभी
पर छिपाए भेद छिपता है कहीं !
जब किसी का दिल पसीजेगा कभी
आँख से आँसू कढ़ेगा क्यों नहीं ॥५॥
हम कहेंगे क्या, कहेंगे यह सभी
आँख के आँसू न ये होते अगर।
बावले हम हो गए होते कभी
सैकड़ों टुकड़े हुआ होता जिगर ॥६॥
बू बनावट की तनिक जिनमें न हो
चाह की छींटें नहीं जिन पर पड़ीं।
प्रेम के उन आँसुओं से हे प्रभो
यह हमारी आँख तो भीगी नहीं ॥७॥

अभ्यास

१—हरिऔधजी के सर्वोत्कृष्ट प्रबंध काव्य का नाम बताइए और उसकी कुछ विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।

२—हरिऔधजी की भाषा की विशेषता क्या है ?

३—निम्नलिखित मुहाविरों का अर्थ समझाइए और उनका प्रयोग एक-एक वाक्य में कीजिए—

फफोला फूटना, जी तड़पना, आँख भीगना, पेट भरना, आधा पेट खाना।

४—छटे चौपदे का भावार्थ समझाइए।

*

४०—तुलसी का भक्ति-मार्ग

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

[आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी के उद्भट विद्वान्, उत्कृष्ट समालोचक, मौलिक निबन्धकार एवं सुकवि हैं। इनका जन्म बस्ती जिले के अगोना ग्राम में संवत् १९४१ में हुआ था। इन्होंने कालेज में रहकर एफ० ए० तक शिक्षा प्राप्त की थी, किन्तु स्वाध्याय से आपने हिन्दी, संस्कृत, अँगरेजी आदि भाषाओं पर अच्छा अधिकार प्राप्त कर लिया था। मिशन स्कूल, मिर्जापुर में अध्यापन कार्य करने के बाद संवत् १९६५ में आप काशी आये और 'शब्दसागर' के सहकारी सम्पादक नियुक्त हुए। काशी-नागरी-प्रचारिणी पत्रिका का कई वर्ष तक आपने संपादन भी किया और फिर हिन्दू विश्वविद्यालय में हिन्दी अध्यापक हो गये। अन्त में आप वहाँ प्रधान अध्यापक हो गये थे। आपकी मृत्यु संवत् १९९७ में हुई।



शुक्लजी हिन्दी के आलोचक-साम्राट् हैं। हिन्दी में वैज्ञानिक ढंग की समीक्षा का प्रारम्भ इन्हीं के लेखों से हुआ है। जायसी, तुलसी और सूर पर लिखे हुए आपके आलोचनात्मक निबन्ध सर्वमान्य हैं। इनका 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' अत्यन्त सुन्दर मौलिक ग्रंथ है, जिसके अनुकरण पर हिन्दी में अनेक पुस्तकें लिखी गईं और लिखी जा रही हैं। हिन्दुस्तानी एकेडमी द्वारा शुक्लजी को इस पुस्तक पर ५००) का पुरस्कार मिला था। उनके मनोवैज्ञानिक लेखों के संग्रह 'चिन्तामणि' पर हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन ने १२००) का 'मंगलाप्रसाद पारितोषिक' प्रदान किया था।]

भक्ति-रस का पूर्ण परिपाक जैसा तुलसीदासजी में देखा जाता है वैसा अन्यत्र नहीं। भक्ति में प्रेम के अतिरिक्त आलम्बन के महत्त्व और अपने दैन्य का अनुभव परम आवश्यक अंग है। तुलसी के हृदय से इन दोनों अनुभवों के ऐसे निर्मल शब्द-स्रोत निकले हैं,

जिनमें अवगाहन करने से मन की मैल कटती है और अत्यन्त पवित्र प्रफुल्लता आती है। गोस्वामीजी के भक्ति-क्षेत्र में शील, शक्ति और सौन्दर्य तीनों की प्रतिष्ठा होने के कारण मनुष्य की सम्पूर्ण भावात्मिका प्रकृति के परिष्कार और प्रसार के लिए मैदान पड़ा हुआ है। वहाँ जिस प्रकार लोक-व्यवहार से अपने को अलग करके आत्म-कल्याण की ओर अग्रसर होनेवाले काम, क्रोध आदि शत्रुओं से बहुत दूर रहने का मार्ग पा सकते हैं, उसी प्रकार लोक-व्यवहार में मग्न रहनेवाले अपने भिन्न-भिन्न कर्त्तव्यों के भीतर ही आनन्द की वह ज्योति पा सकते हैं, जिससे इस जीवन में दिव्य जीवन का आभास मिलने लगता है और मनुष्य के वे सब कर्म, वे सब वचन और वे सब भाव—क्या डूबते हुए को बचाना, क्या अत्याचारी पर शस्त्र चलाना, क्या स्तुति करना, क्या निन्दा करना, क्या दया से आर्द्र होना, क्या क्रोध से तमतमाना—जिनसे लोक का कल्याण होता आया है, भगवान् के लोक-पालन करनेवाले कर्म, वचन और भाव दिखाई पड़ते हैं।

यह प्राचीन भक्ति-मार्ग एकदेशीय आधार पर स्थित नहीं, यह एकांगदर्शी नहीं। यह हमारे हृदय को ऐसा नहीं करना चाहता कि हम केवल व्रत-उपवास करनेवालों और उपदेश करनेवालों ही पर श्रद्धा रखें और जो लोग संसार के पदार्थों का उचित उपभोग करके अपनी विशाल भुजाओं से रणक्षेत्र में अत्याचारियों का दमन करते हैं, या अपनी अन्तर्दृष्टि की साधना और शारीरिक अध्यवसाय के बल से मनुष्य-जाति के ज्ञान की वृद्धि करते हैं, उनके प्रति उदासीन रहें। गोस्वामीजी की रामभक्ति यह दिव्य वृत्ति है, जिससे जीवन में शक्ति, सरसता, प्रफुल्लता, पवित्रता सब कुछ प्राप्त हो सकती है। आलम्बन की महत्त्व-भावना से प्रेरित दैन्य के अतिरिक्त भक्ति के और जितने अंग हैं—भक्ति के कारण अन्तःकरण को जो और-और शुभ-वृत्तियाँ प्राप्त होती हैं—सब की अभिव्यञ्जना गोस्वामीजी के ग्रन्थों के भीतर हम पा सकते हैं। राम में सौन्दर्य, शक्ति और शील तीनों की चरम अभिव्यक्ति एक साथ समन्वित होकर मनुष्य के सम्पूर्ण हृदय को—उसके किसी एक ही अंश को नहीं—आकर्षित कर लेती है। कोरी साधुता का उपदेश पाखंड है, कोरी वीरता का उपदेश

उद्दण्डता है, कोरे ज्ञान का उपदेश आलस्य है और कोरी चतुराई का उपदेश धूर्तता है।

सूर और तुलसी को हमें उपदेशक के रूप में न देखना चाहिए। वे उपदेशक नहीं हैं, अपनी भावुकता और प्रतिभा के बल से लोक-व्यापार के भीतर भगवान् की मनोहर मूर्ति प्रतिष्ठित करनेवाले हैं। हमारा प्राचीन भक्ति-मार्ग उपदेशकों की सृष्टि करनेवाला नहीं है। सदाचार और ब्रह्मज्ञान के रूखे उपदेशों द्वारा इसके प्रचार की व्यवस्था नहीं है। न भक्तों के राम और कृष्ण उपदेशक, न उनके अनन्य भक्त तुलसी और सूर। लोक-व्यवहार में मग्न होकर जो मंगल-ज्योति इन अवतारों ने उसके भीतर जगाई, उसके माधुर्य्य का अनेक रूपों में साक्षात्कार करके मुग्ध होना और मुग्ध करना ही इन भक्तों का प्रधान व्यवसाय है। उनका शस्त्र भी मानव-हृदय है और लक्ष्य भी। उपदेशों का ग्रहण ऊपर-ही-ऊपर से होता है। न वे हृदय के मर्म को ही भेद सकते हैं, न बुद्धि की कसौटी पर ही स्थिर भाव से जमे रह सकते हैं। हृदय तो उनकी ओर मुड़ता ही नहीं और बुद्धि उनको लेकर अनेक दार्शनिकवादों के बीच जा उलझती है। उपदेश, वाद या तर्क गोस्वामीजी के अनुसार "वाक्यज्ञान" मात्र कराते हैं, जिससे जीव-कल्याण का लक्ष्य पूरा नहीं होता—

वाक्य-ज्ञान अत्यन्त निपुन भव पार न पावै कोई।
निसि गृह मध्य दीप की बातन तम निवृत्त नहिं होई॥

"वाक्य-ज्ञान" और बात है, अनुभूति और बात। इसी से प्राचीन परंपरा के भक्त लोग उपदेश, वाद या तर्क की अपेक्षा चरित्र-श्रवण और चरित्र-कीर्तन आदि का ही अधिक नाम लिया करते हैं।

प्राचीन भागवत सम्प्रदाय के बीच भगवान् के उस लोक-रंजनकारी रूप की प्रतिष्ठा हुई, जिसके अवलम्बन से मानव-हृदय अपने पूर्ण भाव-संघात के साथ कल्याण-मार्ग की ओर आपसे आप आकर्षित हो सके। इसी लोक-रंजनकारी रूप का प्रत्यक्षीकरण प्राचीन परम्परा के भक्तों का लक्ष्य है, उपदेश देना नहीं। उसी मनोहर रूप की अनुभूति गद्गद और पुलकित होना, उसी रूप की एक-एक छटा को औरों के सामने भी रखकर उन्हें मानव-जीवन के सौन्दर्य-साधन में प्रवृत्त करना भक्तों का काम है।

गोस्वामीजी ने अनन्त सौन्दर्य का साक्षात्कार करके उसके भीतर ही अनन्त शक्ति और अनन्त शील की वह झलक दिखाई है जिसके प्रकाश में लोक का प्रमोद-पूर्ण परिचालन हो सकता है। सौन्दर्य, शक्ति और शील, तीनों में मनुष्य-मात्र के लिए आकर्षण विद्यमान है। रूप-लावण्य के बीच प्रतिष्ठित होने से शक्ति और शील को और भी अधिक सौन्दर्य प्राप्त हो जाता है, उनमें एक अपूर्व मनोहरता आ जाती है। जिसे शक्ति-सौन्दर्य की यह झलक मिल गई उसके हृदय में सच्चे वीर होने की अभिलाषा जीवन-भर के लिए जग गई, जिसने शील-सौन्दर्य की यह झाँकी पाई उसके आचरण पर इसके मधुर प्रतिबिम्ब की छाप बैठी। प्राचीन भक्ति के इस तत्व की ओर ध्यान देकर जो लोग भगवान् की लोक-मंगल-विभूति के द्रष्टा तुलसी को कबीर, दादू आदि की श्रेणी में रखकर देखते हैं, वे बड़ी भारी भूल करते हैं।

अनन्त-शक्ति-सौन्दर्य-समन्वित अनन्त शील की प्रतिष्ठा करके गोस्वामीजी को पूर्ण आशा होती है कि उसका आभास पाकर जो पूरी मनुष्यता को पहुँचा हुआ हृदय होगा वह अवश्य द्रवीभूत होगा—

सुनि सीतापति शील सुभाउ।
मोद न मन, तन पुलक, नयन जल सो नर खेहर खाउ॥

इसी हृदय-पद्धति द्वारा ही मनुष्य में शील और सदाचार का स्थायी संस्कार जम सकता है। दूसरी कोई पद्धति है ही नहीं। अनन्त शक्ति और अनन्त सौन्दर्य के बीच से अनन्त शील की आभा फूटती देख जिसका मन मुग्ध न हुआ, जो भगवान् की लोक-रंजन मूर्ति के मधुर ध्यान में कभी लीन न हुआ, उसकी प्रकृति की कटुता बिलकुल नहीं दूर हो सकती।

सूर-सुजान, सपूत, सुलच्छन, गनयति सुन गरुआई।
बिनु हरिभजन इँदारुन के फल, तजत नहीं करुआई॥

चरम महत्त्व के इस भव्य-ग्राह्य रूप के सम्मुख भाव-विह्वल भक्त-हृदय के बीच जो-जो भाव तरंगें उठती हैं उन्हीं की माला विनय-पत्रिका है। महत्त्व के नाना रूप और इन भाव-तरंगों की स्थिति परस्पर बिम्ब-प्रतिबिम्ब समझनी चाहिए। भक्त में दैन्य, आशा, उत्साह, आत्म-ग्लानि, अनुताप, आत्म-निवेदन आदि की गम्भीरता

उस महत्त्व की अनुभूति की मात्रा के अनुसार समझिए। महत्त्व का जितना ही सान्निध्य प्राप्त होता जायगा—उसका जितना ही स्पष्ट साक्षात्कार होता जायगा—उतना ही अधिक इन स्फुट भावों का विकास होता जायगा, और इन पर भी महत्त्व की आभा चढ़ती जायगी। मानो ये भाव महत्त्व की ओर बढ़ते जाते हैं और महत्त्व इन भावों की ओर बढ़ता आता है। इस प्रकार लघुत्व का महत्त्व में लय हो जाता है।

सारांश यह कि भक्ति का मूल तत्त्व है महत्त्व की अनुभूति। इस अनुभूति के साथ ही दैन्य अर्थात् अपने लघुत्व की भावना का उदय होता है। इस भावना को दो ही पंक्तियों में गोस्वामीजी ने बड़े ही सीधे-सादे ढङ्ग से व्यक्त कर दिया है—

राम सों बड़ो है कौन, मोसों कौन छोटो?
राम सों खरो है कौन, मोसों कौन खोटो?

प्रभु के महत्त्व के सामने होते ही भक्त के हृदय में अपने लघुत्व का अनुभव होने लगता है। उसे जिस प्रकार प्रभु का महत्त्व वर्णन करने में आनन्द आता है, उसी प्रकार लघुत्व वर्णन करने में भी। प्रभु की अनन्त शक्ति के प्रकाश में उसकी असामर्थ्य का, उसकी दीन दशा का, बहुत साफ चित्र दिखाई पड़ता है, और वह अपने ऐसा दीन-हीन संसार में किसी को नहीं देखता। प्रभु के अनन्त शील और पवित्रता के सामने उसे अपने में दोष-ही-दोष और पाप-ही पाप दिखाई पड़ने लगते हैं। इस अवस्था को प्राप्त भक्त अपने दोषों, पापों और त्रुटियों को अत्यन्त अधिक परिमाण में देखता है और उनका जी खोलकर वर्णन करने में बहुत कुछ सन्तोष लाभ करता है। दम्भ, अभिमान, छल, कपट आदि में से कोई उस समय बाधक नहीं हो सकता। इस प्रकार अपने पापों की पूरी सूचना देने से जी का बोझ ही नहीं, सिर का बोझ भी कुछ हलका हो जाता है। भक्त के सुधार का भार उसी पर न रहकर बँट-सा जाता है।

ऐसी उच्च मनोभूमि की प्राप्ति, जिनमें अपने दोषों को झुक-झुककर देखने ही की नहीं, उठा-उठाकर दिखाने की भी प्रवृत्ति होती है, ऐसी नहीं जिसे कोई कहे कि यह कौन बड़ी बात है। लोक की

सामान्य प्रवृत्ति तो प्रायः इसके विपरीत ही होती है. जिसे अपना ही मानकर गोसाईंजी कहते हैं—

जानत हूँ निज पाप जलधि जिय,
जल-सीकर सम सुनत लरौं।
रज सम पर-अवगुन सुमेरु करि,
गुन गिरि सम रज तें निदरौं॥

ऐसे वचनों के सम्बन्ध में यह समझ रखना चाहिए कि ये दैन्य भाव के उत्कर्ष की व्यंजना करनेवाले उद्‌गार हैं। ऐतिहासिक खोज की धुन में इन्हें आत्म-वृत्ति समझ बैठना ठीक न होगा। इन शब्द-प्रवाहों में लोक की सामान्य प्रवृत्ति की व्यंजना हो जाती है। इससे इनके द्वारा प्रत्येक मनुष्य अपने दोषों और बुराइयों की ओर दृष्टि ले जाने का साहस प्राप्त कर सकता है। दैन्य भक्तों का बड़ा भारी बल है।

परम महत्त्व के सान्निध्य से हृदय में उस महत्त्व में लीन होने के लिए जो अनेक प्रकार के आन्दोलन उत्पन्न होते हैं, वे ही भक्तों के भाव हैं। कभी भक्त अनन्त रूपराशि के अनुभव से प्रेम पुलकित हो जाता है, कभी अनन्त शक्ति की झलक पाकर आश्चर्य और उत्साह से पूर्ण होता है, कभी अनन्त शील की भावना से अपने कर्मों पर पछताता है और कभी प्रभु के दया-दाक्षिण्य को देख मन में इस प्रकार ढाढ़स बाँधता है—

कहा भयो जो मन मिलि कलि कालहि कियो भौंतुवा मौर को हौं।
तुलसीदास सीतल नित एहि बल, बड़े ठेकाने ठौर को हौं॥

दिन-रात स्वामी के पास रहते-रहते जिस प्रकार सेवक की धड़क खुल जाती है, उसी प्रकार प्रभु के सतत ध्यान से जो सान्निध्य की अनुभूति भक्त के हृदय में उत्पन्न होती है, उसके कारण वह कभी-कभी मीठा उपालंभ भी देता है।

भक्ति में लेन-देन का भाव नहीं रह जाता। भक्ति के बदले में उत्तम गति मिलेगी, इस भावना को लेकर भक्ति हो ही नहीं सकती। भक्त के लिए भक्ति का आनन्द ही उसका फल है। वह शक्ति, सौन्दर्य और शील के अनन्त समुद्र के तट पर खड़ा होकर लहरें लेने में ही जीवन का परम फल मानता है।

गोस्वामीजी एक बार वृन्दावन गए थे। वहाँ किसी कृष्णोपासक ने उन्हें छेड़कर कहा—"आपके राम तो बारह ही कला के अवतार हैं। आप श्रीकृष्ण की भक्ति क्यों नहीं करते, जो सोलह कला के अवतार हैं?" गोस्वामीजी बड़े भोलेपन के साथ बोले—"हमारे राम अवतार भी हैं, यह हमें आज मालूम हुआ।" राम भगवान् के अवतार हैं इससे उत्तम फल या गति दे सकते हैं, बुद्धि के इस निर्णय पर तुलसी राम से भक्ति करने लगे हों, यह बात नहीं है। राम तुलसी को अच्छे लगते हैं, उनके प्रेम का यदि कोई कारण है तो यही।

जौ जगदीस तौ अति भलौ, जौ महीस तौ भाग।
तुलसी चाहत जनम भरि, राम-चरन अनुराग॥

तुलसी को राम का लोक-रञ्जन रूप वैसा ही प्रिय लगता है, जैसा चातक को मेघ का लोक-सुखदायी रूप। राम प्रिय लगने लगे, राम की भक्ति प्राप्त हो गई, इसका पता कैसे लग सकता है? इसका लक्षण है मन का आप-से-आप सुशीलता की ओर ढल पड़ना—

तुम अपनायो, तब जनिहौं जब मन फिरि परिहै।

इस प्रकार शील को राम-प्रेम का लक्षण ठहराकर गोस्वामीजी ने अपने व्यापक भक्ति क्षेत्र के अंतर्भूत कर लिया है।

भक्त यही चाहता है कि प्रभु के सौन्दर्य, शक्ति आदि की अनन्तता की जो मधुर भावना है वह अबाध रहे—उसमें किसी प्रकार की कसर न आने पाए। अपने ऐसे पापी की सुगति को वह प्रभु की शक्ति का एक चमत्कार समझता है। अतः उसे यदि सुगति न प्राप्त हुई तो उसे इसका पछतावा न होगा, पछतावा होगा इस बात का कि प्रभु की अनन्त शक्ति की भावना बाधित हो गई—

नाहिं न नरक परत मो कहँ डर यद्यपि हौं अति हारो।
यह बड़ि त्रास दास तुलसी कहँ नामहु पाप न जारो॥

प्रभु के सर्वगत होने का ध्यान करते-करते भक्त अन्त में जाकर उस अवस्था को प्राप्त करता है, जिसमें वह अपने साथ-साथ समस्त संसार को उस एक अपरिच्छिन्न सत्ता में लीन होता देखने लगता है, और दृश्य भेदों का उसके ऊपर उतना जोर नहीं रह जाता। तर्क या युक्ति ऐसी अवस्था की सूचना-भर दे सकती है—

"वाक्य ज्ञान"-भर करा सकती है। संसार में परोपकार या आत्म-त्याग के जो उज्ज्वल दृष्टान्त कहीं-कहीं दिखाई पड़ा करते हैं, वे इसी अनुभूति-मार्ग में कुछ-न-कुछ अग्रसर होने के हैं। यह अनुभूति-मार्ग या भक्ति-मार्ग बहुत दूर तक तो लोक-कल्याण की व्यवस्था करता दिखाई पड़ता है; पर और आगे चलकर यह निस्संग साधक को सब भेदों से परे ले जाता है।

अभ्यास

१—तुलसी के भक्ति-मार्ग पर इस निबन्ध के आधार पर आप अपने शब्दों में एक निबन्ध लिखिए।

२—निम्नलिखित वाक्य का अर्थ अपने शब्दों में स्पष्ट कीजिए :—

'गोस्वामीजी की रामभक्ति वह दिव्य वृत्ति है, जिससे जीवन में शक्ति, सरसता, प्रफुल्लता, पवित्रता सब कुछ प्राप्त हो सकती है।

३—प्रश्न संख्या दो में उद्धृत वाक्य की पद-व्याख्या कीजिए।

४—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के सम्बन्ध में आप क्या जानते हैं? उनकी आलोचनात्मक शैली पर अपने विचार व्यक्त कीजिए।

५—भक्त की अभिलाषा क्या रहती है?

मुद्रक :—राम आसरे कक्कड़, हिन्दी-साहित्य प्रेस, इलाहाबाद